प्रकाशक
वृहस्पति उपाध्याय
हिन्दी प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद

पांचवीं बार : १९५२
कुल छपी प्रतियां : २५०००

मूल्य
सवा रुपया

मुद्रक
ताप त्रिपाठी
णालय, प्रयाग

वड़ेभैया के चरणों में

स्वर्गीय हरगोविन्द अजरामर पंड्या दक्षिणामूर्ति के 'मोटाभाई' यानी वड़ेभैया थे। उनकी एकनिष्ठा और तपश्चर्या के कारण ही आज दक्षिणामूर्ति की जड़ें इतनी गहरी पैठ सकी हैं। भावनगर-जैसे एक स्टेशन के स्टेशनमास्टर ने किसी शिक्षण-संस्था के पीछे अपना तन-मन लुटा दिया हो, इसकी कोई मिसाल गुजरात-काठियावाड़ में जानी-सुनी नहीं। वड़ेभैया का उच्च जीवन आज भी दक्षिणामूर्ति के मेरे समान खलासियों के लिए काली, अंधेरी, बादलों से घिरी रात में मार्ग-दर्शक बनता है और जब पहाड़-सी ऊंची लहरें उछलती होती हैं तब भी नौका को कोई हानि नहीं पहुंचने देता।

ये मोटाभाई सम्वत् १९८० की आषाढ़ वदी एकादशी के दिन विदेह हुए। उस समय मैं अफ्रीका में था, इसलिए उनके विछोह के दुःख को पचा जाने की श्रद्धा आज, अभी तक भी, मुझमें नहीं आई है। इन मोटाभाई के स्मरण में व्यवस्थापक-मण्डल ने प्रतिवर्ष एक पुस्तक प्रकाशित करने का निश्चय किया है और पहली पुस्तक लिखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। पूज्य मोटाभाई के चरणों में मेरी यह विनम्र अंजलि है।

मोटाभाई ने मुझे नानाभाई बनाया। सगी मां के पेट से जन्मे बड़े भाई का जैसा स्नेह नहीं चखा, वैसा उनका स्नेह चखा है। अन्तरंग मित्रों के साथ जो बातें नहीं कीं, वे उनके साथ की हैं। मन से माने सद्गुरु से जितना नहीं सीखा, उतना उनसे सीखा है। इस महान् ऋण की स्मृति में यह पुस्तक मोटाभाई के चरणों में अर्पित करता हूं।

हम दो नों गुरुभाई थे। एक ही गुरु के अन्तेवास का साथ-साथ सेवन किया था, एक ही गुरु के चरण पलोटने को अपने जीवन का परम ध्येय माना था, एक ही गुरु की आज्ञा से दक्षिणामूर्ति की उपासना शुरू की थी।

किन्तु काल बदला, सारे संसार के समक्ष गुरुत्व का पुराना आदर्श नये स्वरूप में खड़ा हुआ और हमारे बाह्य मार्ग बदल गये। फिर भी मोटाभाई से तो मुझे और दक्षिणामूर्ति को वही गरमी, वही सुवास, वही वात्सल्य और वही मिठास अन्त तक मिलती रही है। इन सबके स्मरण-मात्र से भी मैं पावन होता हूं, दक्षिणामूर्ति भी पावन होती है।

इन आख्यायिकाओं के मूल में समूचे हिन्दू-धर्म की जो आध्यात्मिक दृष्टि रही है, उसकी एक झांकी मैंने मोटाभाई के जीवन में पाई थी, एक झलक देखी थी। इसीलिए इस माला की पहली पुस्तक के रूप में इसे पसन्द किया है। वे गृहस्थ थे, पर साधुओं का-सा जीवन बिताते थे। उनके अतिथि-सत्कार का जोड़ा शायद समूचे भावनगर में भी न मिलता। उनकी प्रभु-परायणता रेलवे में सर्वत्र प्रसिद्ध है। उनकी गुरु-भक्ति का आसन तो आज भी गुरु के आश्रम में खाली ही पड़ा है और उनकी निर्भयता और आज्ञाधीनता की गवाही उनके उच्चाधिकारी देते हैं। इन सबकी जड़ में उनकी मुमुक्षा—जीवन का कल्याण साधने की उनकी उग्रता—काम कर रही थी।

मोटाभाई के जीवन में जिसकी झलक मैंने देखी है, हिन्दू-धर्म अर्थात् मानव-धर्म की इन आख्यायिकाओं को मैं उन्हींके चरणों में चढ़ाता हूं।

इन पंक्तियों को लिखते समय मेरे अन्तःकरण में बैठा कोई मुझसे कह रहा है—"तुझ पर और दक्षिणामूर्ति पर मोटाभाई अपने आशीर्वाद निरन्तर बरसाते ही रहेंगे।" प्रभो, हमें सद्बुद्धि दो!

—नानाभाई

प्रस्तावना

धार्मिक शिक्षा और धार्मिक वाचन का प्रश्न जोर पकड़ता जा रहा है। हिन्दू समाज में पुराण-श्रवण और लोक-गीत का गान, दो पुराने साधन थे, जिन्हें हमने अपनी लापरवाही से लुप्त होने दिया है। अब शिक्षा-विभाग के ढंग पर समाज को संस्कारवान् बनाना जरूरी हो गया है। लोगों की अभिरुचि भी बहुत बदल गई है। अब जनता को सादगी की अपेक्षा चतुराई ज्यादा पसन्द पड़ती है और मेहनत बचाने का रास्ता ढूंढ निकालना आज के इस जमाने का पुरुषार्थ माना जाता है। व्यर्थ की मेहनत अवश्य टाली जानी चाहिए। किन्तु सब तरह की मेहनत को टालने में, उससे जी चुराने में तो झुठाई ही भरी है। और आश्चर्य की बात यह है कि मेहनत बचाने के अपने इस महान् प्रयास में हमने दुनिया के अन्दर असंख्य झंझटें बढा दी हैं और हम हैं कि उनके प्रवाह से उबर नहीं पाते! जमाने का जोर इतना अधिक है कि अच्छे-अच्छों को उसमें बहना पडता है।

श्री वेदव्यास ने सरल-से-सरल संस्कृत भाषा का उपयोग करके कठिन विषयों को भी हाथ के आंवले की तरह सुलभ बनाया और महाभारत की रचना की। उसमें उन्होंने लोककवि और लोकशिक्षक की अपनी सारी कला खर्च कर डाली और एक ऐसी विशाल पाठ्य-पुस्तक लिखी, जिसमें शिक्षा के सभी विषयों का समावेश हो सके। जो संस्कृत जानता है, वह अधिक-से-अधिक तीन वर्ष बिता कर इस पाठ्य-पुस्तक द्वारा अपनी शिक्षा पूर्ण कर सकता है और बहुश्रुत की उपाधि प्राप्त कर सकता है। अनेक विद्वानों ने इस पाठ्य-पुस्तक की जांच करके इस पर अपनी यह सम्मति दी है—"अक्षरों द्वारा दिया जा सकने वाला सभी विषयों का ज्ञान इसमें आ गया है। इसके बाहर कहीं कुछ नहीं है। 'व्यासोच्छिष्टम् जगत् सर्वम्'। जो महाभारत में नहीं, वह

दुनिया में नहीं।" फिर भी हम इस महाभारत को पढ़ नहीं सकते। आज के जमाने के खयाल से यह पाठ्यपुस्तक न सुलभ मानी जायगी और न कोई इसे सम्पूर्ण कहेगा। तिस पर भी इसकी उपयोगिता तो बहुत ही है। चरित्र-गठन, धर्मज्ञान और सामाजिक सद्गुणों की शिक्षा के लिए रामायण-महाभारत से बढ़कर कोई पुस्तक हमें मिलनी मुश्किल है। इसी कारण हिन्दुस्तान के कवियों और धर्म-प्रचारकों ने इन दो ग्रन्थो की शरण ली है और आगे भी लेंगे।

श्री नानाभाई सनातनधर्म के शुभ संस्कारों में पले हैं और राष्ट्रीय शिक्षा के व्रती हैं। यदि उनकी दृष्टि महाभारत पर पड़ती है तो इसमें आश्चर्य क्या? दक्षिणामूर्ति के अपने छात्रो और छात्राओं के लिए महाभारत से कथा-रत्न चीन-बीन कर उन्होंने उनका एक उत्तम हार तैयार किया है और वही गुजरात के समस्त बालकों को वे इस पुस्तक द्वारा दे रहे हैं।

इन आख्यायिकाओं की शैली सहज ही हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती है। हिन्दुस्तान में पारसियो का स्वागत करते हुए जिस तरह यहां के हिन्दू राजाओं ने उन्हें कुछ मर्यादाएं सुझाई थीं और कहा था, "इन मर्यादाओं का पालन करने पर ही आप इस राज्य के प्रजाजन बन सकेंगे," उसी तरह महाभारतकाल की वार्ताओं-कथाओं से लेखक ने कहा है—"यदि तुम्हें आज की बाल-दुनिया में प्रवेश करना हो तो तुम्हें उस बाल-दुनिया का वेश धारण करना होगा और भाषा भी बाल-दुनिया की ही बोलनी पड़ेगी।" इन कथाओं के लिए यह रूपान्तर कठिन था; किन्तु जिन्होने नाना प्रकार के बालकों को शिक्षित करने की शक्ति प्राप्त की है, वे पौराणिक कथा-वार्ता को भी नया रूप देना जानते हैं। इसी कारण बालकों को इन आख्यायिकाओं में अपना ही वातावरण मिलेगा और वैसा होने पर उनमें इन आख्यायिकाओं का वातावरण भी अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ प्रविष्ट हो जायगा। बालकों

के प्रति समभाव दक्षिणामूर्ति की विशेषता है। यह विशेषता इन आख्यायिकाओं में भी पूरी-पूरी व्यक्त हुई है। अतएव ये आख्यायिकाएं न केवल बालकों का मन हर लेंगी, बल्कि चरित्रगठन में भी उनको बहुत सहायक सिद्ध होंगी।

नानाभाई ने धार्मिक वाचन के प्रश्न को अपने हाथ में लिया ही है, अतएव अब उनको ऐसी दूसरी पुस्तकें भी तैयार करनी चाहिएं, यों तो अनुकरण के इस युग में एक नमूना पेश कर देना भी पर्याप्त है।

—काका कालेलकर

विषय-सूची

मानव-धर्म की आख्यायिकाएं

: १ :

आरुणि

धौम्य नाम के एक ऋषि थे। एक सुन्दर नदी के तट पर उनका आश्रम था। आश्रम में चार पांच सौ शिष्य रहते, और गुरु के पास वेदाध्ययन करते।

प्रति दिन प्रातः गुरु की पर्णकुटी से 'स्वाहा, न मम' के घोष उठने, और अन्तरतर के पापो को हरनेवाला सुगन्धित धुआं छप्परो में से बल खाता, गुछलियां बनाता, ऊपर आकाश में चढ जाता। प्रतिदिन सवेरे आश्रम के वृक्षो पर झूलनेवाले पक्षी अपने कलरव से सारे आश्रम को भर देते। प्रतिदिन प्रात. कुछ शिष्य पर्णकुटियो में वेदोच्चार करते, कुछ पेड़-पौधों को पानी सींचते, कुछ अर्घ्य-प्रदान के लिए फूल चुनते, कुछ गायें दुहते, तो कुछ खेतों की क्यारियो को पानी पिलाते, कुछ आश्रम के रास्तों को साफ करते, तो कुछ वृक्ष की छाया में ध्यान-मग्न बैठे होते। प्रतिदिन प्रात. पर्णकुटी के चबूतरे पर बैठकर ऋषिपत्नी हरिणो को दर्भ और दूर्वा खिलाती और कुदाती।

एक बार गुरु के आगन में सभी बैठे थे। शास्त्र के और जीवन के भिन्न-भिन्न प्रश्नो पर जमकर चर्चा हो रही थी। गुरु ने अपने सामने बैठे शिष्यों को एक नजर देखा। फिर देखा, और एकाध भेड़ के न

मिलने पर गडरिया जिस आकुल भाव से उसे ढूंढता है वैसी ही आतुरता से धौम्य ने पूछा—"आज आरुणि क्यों नहीं दीखता ?"

आरुणि पांचाल देश का निवासी था। प्रायः बीस वर्ष से वह गुरुकुल में ही रहता है। शास्त्र के अनेक पोथे पढ़-पढ कर वह थक चुका था, इसी-लिए तो वह आश्रम में आकर रहा था। अपने आने के दिन से ही उसने गुरु की सेवा को मुख्य वस्तु माना था और उस सेवा में ही उसे जीवन की परम शान्ति मिली थी। गुरु को स्नान कराना, उनके कपड़े धोना, उनकी पर्णकुटी साफ करना, होम की सामग्री जुटा देना, गुरु का बिछौना बिछा देना, उनके पैर दवाना, यही सब आरुणि का काम था। उसके विचार में गुरु के जीवन की छोटी-छोटी बातों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसने उनका मर्म समझ लिया था, और उस जीवन में ही उसे मानव-जीवन की ऊंची-से-ऊंची शिक्षा का अनुभव प्राप्त होता था। गुरु के पांव पलोटने में अपनी देह को खपा देना उसके मन का सच्चा आत्म-दर्शन था।

गुरु की सेवा से जो समय बचता, उसमें आरुणि दूसरे गुरुभाइयो का काम बड़े प्रेम से कर दिया करता। किसी की क्यारियो को पानी पिला देता, किसीकी पर्णकुटी बुहार देता, किसीकी शय्या के पास बैठकर जागरण करता, तो किसीके वल्कल सांव देता। कई शिष्य ऐसे होते, जो अपने अध्ययन में आगे बढ़ने के लोभ से अपना काम आरुणि से ही करवा लिया करते, और समझते कि बात-बात में ठीक काम करवा लिया।

गुरु ने पूछा—"आरुणि क्यों नहीं दीखता ?"

"सो गया होगा।" एक ने कहा।

"बछड़ों को बांधता होगा।" दूसरा बोला।

"वह. . . . .खेत में खड़ा पक्षियों को उड़ा रहा है। उसे कौन अध्ययन करना है ? ये कोई अध्ययन करनेवाले के लक्षण हैं ? बीस वर्ष हो गये, अभी तक एक वल्ली भी तो पूरी याद नहीं हुई।"

"वह बेचारा न जाने क्यों यहां फंसा है ? उसकी सामर्थ्य क्या ? जब आप वेद का रहस्य समझाते हैं, तब हमारी बुद्धि भी काम नहीं करती, तो फिर बेचारे आरुणि की क्या बिसात है ?" एक वेदपाठी ने दया दरसाते हुए कहा।

धौम्य ने सब बातें शान्ति-पूर्वक सुन लीं। क्षण-भर के लिए उन्होंने अपने मन को अन्तर्मुख किया और फिर बोले—"जब उसे आना होगा, आ जायगा। हम अपना काम करें।"

अभी चर्चा चल ही रही थी कि इतने में एकाएक बादल घिर आये, आकाश घना हो उठा, बिजली कौंधने लगी, और कान के परदों को चीर डालनेवाली गड़गड़ाहट शुरू हो गई।

"गुरुजी। देखिये, पानी तो यह आया!"

"अरे हां, यह आ ही गया!"

"वह देखिये, खेत दीखना बन्द हो गया! और यह बदली यहां बरस पड़ी।"

"यह आया। देखिये, अब तो पेड़ भी नहीं दीखते।"

गुरु ने कहा—"सब मेरी पर्णकुटी में चले जाओ।"

और, अचानक मूसलाधार पानी बरसने लगा। जैसे आकाश में किसी ने छेद कर दिया। पानी कहीं समाता नहीं था। ऐसा लगता था, मानो आकाश समूचा बरस पड़ेगा! आश्रम में पानी-ही-पानी हो गया।

"अपने खेत का नया बांध टूट जायगा और खेत में बोई फसल सब बह जायगी। उस बांध को अच्छी तरह पक्का कर देना चाहिए।" गुरु ने शिष्यों पर दृष्टि डालते हुए कहा।

"जी, मैंने वल्कल सुखाने डाले हैं, सो जरा देख आऊं। कहीं उड़ न गया हो।" एक रवाना हुआ।

"गुरुजी ! मेरी पर्णकुटी में पानी टपकता था।" दूसरा गया।

"मेरी ऋचा थोड़ी कच्ची रह गई है, इसे पक्की कर लूं।" कहकर तीसरा उठा और चल दिया।

इस तरह एक-के-बाद एक लगभग सभी चले गये।

इतने में हांफता-हांफता आरुणि आया—"जी, खेत का बांध अब टूटूं-तब-टूटूं हो रहा है। आपकी आज्ञा हो तो जाऊं, उसपर मिट्टी डाल आऊं। होम की तैयारी करने आया हूं, सो करके उधर चला जाऊंगा।"

"आरुणि ! तुम पहले खेत पर जाओ। पानी को बराबर रोक रखना, भला ! देखना क्यारियां अखण्ड ही बनी रहें। होम की तैयारी तो हो जायगी।"

आरुणि भागा। टखने-टखने तक पानी को चीरता, कीचड़-कचरे को कुचलता, खूंदता, चुभते कांटों को खींचकर फेंकता, आरुणि बांध के पास पहुंचा।

बांध टूटने की तैयारी में था। और पानी कहे, कि अभी ही बरसूंगा। आरुणि आस-पास से मिट्टी लाकर डालने लगा, लेकिन क्या मजाल कि वह टिक जाय ? मिट्टी तो बह ही गई, और बांध भी टूटा, और पानी कहे कि आज ही बरसूंगा !

आरुणि ताकता ही रह गया। उसके पास सोच-विचार के लिए समय नहीं था। अन्तेवास के बीसों वर्ष आज उसके सामने आ खड़े हुए। गुरुजी की आज्ञा है कि क्यारी अखंड रहनी चाहिए। बीस वर्ष में एक बार भी आज्ञा भंग नहीं हुई। क्या आज उस सब पर पानी फिर जायगा।

उसी क्षण उसके मन में बिजली-सी कौंधी। उसके समूचे शरीर में नई शक्ति का संचार हो गया। और इससे पहले कि पानी फूटकर बाहर निकले, आरुणि की देह बांध की जगह जड़ गई। हड्डी और

मांस के बने उस जीते-जागते बांध ने पानी के प्रवाह को रोक दिया, और घंसी आती मिट्टी, मिट्टी के आरुणि पर अपनी तहें चढ़ाने लगी।

दूसरा दिन उगा। होम से निपट कर गुरु बाहर आये और पूछने लगे—"आरुणि कहां है ?"

"कहीं भटकता होगा ?" एक ने कहा।

"जी, अभी इस ओर जा रहा था।" दूसरा बोला।

"उसे तो कल बांध पर भेजा था ? सो वह भला आदमी सारी रात वहीं पड़ा रहा होगा। उसे तो आता था, और वेद ने बता दिया ?" तीसरे ने कहा।

"अरे हां, मालूम होता है, रात आरुणि लौटा नहीं। चलो हम खेत पर चलें।" गुरु बोले।

सब खेत की तरफ रवाना हुए।

"आज आरुणि की खबर ली जायगी।"

"हां, आज चोर रंगे हाथों पकड़ा जायगा।"

"रोज रात को भाग जाता है, और कहता है, मैं तो गुरुजी के पास सोता हूं। आज अच्छा भण्डाफोड़ होगा !"

सब खेत की ओर चले। खेत तो वर्षा के कारण खूब हो तर हो गया था। चारों ओर देखा; किन्तु आरुणि कहीं न दीखा।

"आरुणि, आरुणि !" गुरु ने पुकारा।

"आरुणि यहां कहां होगा ? वह तो कहीं नौ-दो ग्यारह हुआ होगा।"

"गुरुजी। आज आपको भी आंख खुल जायगी।"

गुरु ने फिर पुकारा—"आरुणि !"

हाड-मासवाले बांध के कानों से गुरु की पुकार टकराई, और

आरुणि तुरन्त ही अपने ऊपर पड़ी मिट्टी की तहें खंखेर कर खड़ा हो गया, और गुरु की ओर दौड़ा।

"बेटा आये!" गुरु ने मिट्टी से सना शरीर छाती से लगा लिया।

आरुणि ने गुरु के चरणों में नमन किया।

"क्यों रे, अब तक कहां था?" एक ने पूछा।

दूसरे ने आरुणि का हाथ खींचकर उसके कान में कहा—"रात कहां सो रहा था?"

गुरु ने आंखें तरेरते हुए कहा—"दुष्टो! तुम नही जानते कि तुम्हें तो आरुणि को स्पर्श करने का भी अधिकार नहीं। तुम अपनी बुद्धि और ज्ञान के अभिमान में अंधे बन गये हो। तुम्हारे मंत्रोच्चारों, तुम्हारी वल्लियों, ऋचाओं और तुम्हारी छटा ने तुम्हें बहका रक्खा हैं। तुम्हारी विद्या झूठी है। सच्ची विद्या तो इसी आरुणि ने जानी हैं।

"तुमको आरुणि मूर्ख प्रतीत होता है। किन्तु मूर्खो! आज तुम जो कुछ रटते हो, वह सब रटकर और उससे थककर ही तो आरुणि यहां आया है। तुम सब वेद के अभ्यासी हो किन्तु तुम नहीं जानते कि इस आरुणि जैसों की वाणी से वेद बनते हैं। आरुणि ने दूसरों के बनाए शास्त्र बहुत घोटे, बहुत चाटे। तुम भी आज किसीके बनाये शास्त्रों से अपनी बुद्धि लड़ाते हो, किन्तु आरुणि तो स्वयं ही आज से शास्त्री बनता है।

"तुम इस आश्रम में गुरु की शरण आये हो, किन्तु गुरु का आश्रय चाहनेवाले तुम अपने शस्त्रास्त्र तो छिपाकर रखते हो। जब तुम किसी की शरण जाते हो, तो तुम्हारे सभी शस्त्र उसके हो जाते हैं। फिर तुम अपने शस्त्रों के उपयोग में स्वतन्त्र नहीं रहते। फिर तो तुम्हारा यही काम रह जाता है, कि कब आदेश हो, शस्त्र उठाओ। क्या तुमने अपने शस्त्रास्त्र इस तरह गुरु को सौंपे हैं? तुम्हारा शरीर, तुम्हारे हाथ-पैर, तुम्हारी

इन्द्रियां, तुम्हारी बुद्धि, इन सबको अपने गुरु के लिए खर्च करने की तुम्हारी तैयारी कहा है ? इस सबकी जड़ में रहे अभिमान को तुम पोसते रहते हो। जबतक यह अभिमान न छूटे, क्या हो ?

"बेटा आरुणि ! तेरे मुख पर मैं वेदों और शास्त्रों का प्रकाश देख रहा हू। जा तेरा कल्याण हो ? तुझे आत्म-दर्शन हो चुका।"

आरुणि चुप रहा। उसने पुन. गुरु के चरणों में नमन किया। सब आश्रम की ओर लौट पड़े।

: २ :

उपमन्यु

धौम्य ऋषि के आश्रम पर आश्विन सुदी दशमी का चन्द्रमा उगा। आंगन में एक पटे पर मृगचर्म बिछाकर ऋषि लेटे हुए हैं। पास ही दूसरे पटे पर बैठी उनकी पत्नी समिधा के टुकड़े काट रही हैं। आश्रम में सर्वत्र शांति है। शिष्य सब सो गये हैं।

ऋषि-पत्नी ने कहा—"बहुत दिनों से एक बात मेरे मन में उठती रहती है।"

ऋषि ने पूछा—"बहुत दिनों से ? तो फिर आजतक कभी कुछ कहा क्यों नहीं ?"

"मैं खुद उसका हल खोज रही थी, किन्तु मुझे कोई हल मिला नहीं, इसलिए आज आपसे पूछती हूं।"

"अवश्य पूछो। बात क्या है, कुछ सुनूं तो ?"

"यह उपमन्यु आपका परम शिष्य है। मुझे याद है कि शास्त्र में उसकी बुद्धि की पैठ देखकर आप भी चकित हुए थे। आपके समस्त शिष्यों की बातचीत से ऐसा मालूम होता है कि इधर तो उसने योग में भी बहुत उन्नति की है। आरुणि तो आज सांझ के समय कह रहा था कि उपमन्यु आजकल तीन-तीन घंटे तक समाधि में रहता है!"

ऋषि ने कहा—"ठीक है; किन्तु इससे क्या ?"

ऋषि-पत्नी ने समिधा काटने का काम बन्द करते हुए कहा—"उपमन्यु

के इतनी उन्नति कर लेने पर भी आप उसे ज्ञान की परम दीक्षा क्यों नहीं देते ?"

"बात तो तुम्हारी बिल्कुल सच है। इतने कम समय में शास्त्र और जीवन के रहस्य को समझने वाला यही एक शिष्य आया है। ध्यान-धारणा तो मानो उसके लिए स्वयंसिद्ध ही थे; अपने चित्त के दोषों को परखने की उसकी सूक्ष्मता ने अन्तःकरण की एक-एक तह को उलट-पुलट डाला है; उसने अनेक अशुभ वासनाओं को उलट दिया है और जीवन के समूचे प्रवाह को परम तत्त्व की ओर अभिमुख कर दिया है।"

ऋषि-पत्नी ने बल पाकर कहा—"तो फिर आप उसे ज्ञान की अन्तिम दीक्षा क्यों नहीं देते ?"

"उसका एक कारण है ?"

"क्या ?"

"उपमन्यु यों तो सब तरह तैयार हो गया है, किन्तु उसका एक दोष इसमें बाधक हो रहा है।"

"आपको उसमें कौन-सा दोष दीखता है ?"

"उसकी भूख—अन्न के प्रति उसकी वासना।"

"उपमन्यु को अन्न की वासना है ? फिर तो अपने पिता के महल छोड़कर वह यहां भीख मांगने आता ही क्यों ?"

"तुम इसे नहीं जानती; मैं उसके इस दोष को परख सकता हूं। उपमन्यु स्वयं भी इस बात को जान गया है; किन्तु वह बेचारा विवश हो जाता है। यह उसके लालन-पालन का दोष है। ऐश्वर्य सम्पन्न माता-पिता का इकलौता लड़का ठहरा। इसलिए जब पानी मांगा, तो लोगों ने दूध दिया। आज जीवन की अन्य सब बातों में उपमन्यु ने विचारबल से अपनी काया-पलट कर डाली है; किन्तु इस दोष के आगे वह भी हार जाता है। उस समय

उसकी समझदारी, उसका शास्त्र-ज्ञान और उसका योगबल सभी काफूर हो जाते हैं। उसके अन्तर की किसी तह में यह दोष घुसा पड़ा है। जिस दिन यह निकल जायगा, मुझे उसको दीक्षा देने की भी आवश्यकता न रह जायगी। दीक्षा तो उसके अन्दर से अपने आप अंकुरित हो उठेगी; मैं तो गुरु के नाते उस दीक्षा का स्वागत-भर करूंगा।"

ऋषि-पत्नी ने गरदन हिलाते हुए कहा—"ये सब तो मुझे फुसलाने की बातें हैं। मेरे लिए छोटा भाई समझो तो, और पुत्र समझो तो, सब कुछ उपमन्यु ही है। उसे देखकर मेरे हृदय में न जाने क्या-क्या होने लगता है। आपने उसे इतनी सारी विद्यायें सिखाई हैं, तो क्या आप उसका यह एक दोष दूर नहीं करेंगे?"

"दोष मेरे दूर करने से थोड़े ही दूर होने वाला है? जिस दिन उसके हृदय मे तीर छूटेगा, उस दिन वह अपने आप दूर हो जायगा।"

"किन्तु आप उसको इसका कोई उपाय तो बताइये।"

"उपाय मैं बता सकता हूं। परन्तु आज ऐसा किसलिए करूं?"

"किसलिए क्यों? हमें आश्रम-जीवन बिताते हुए आज तीस-तीस बरस हो गये। इस बीच आपके एक भी शिष्य को साक्षात्कार नहीं हुआ। ऐसी दशा में मैं दूसरी ऋषि-पत्नीयों को क्या मुंह दिखाऊं?"

"तुम कह सकती हो कि जब ऋषि को ही ज्ञान न मिला हो, तो वह शिष्य को क्या दे?"

"वाह, ऐसा भी कहीं कहते होंगे? नहीं, आप उपमन्यु के लिए कुछ कीजिये। उसकी वासना को मिटाइये। आप जो चाहें कर सकते हैं। मेरी कोई बात नहीं; किन्तु इस उपमन्यु के लिए तो अवश्य ही कुछ कीजिये।" ऋषि-पत्नी ने हठपूर्वक कहा।

"अच्छा ।"

"देखिये भला, भूलिये नहीं ! कल से करेंगे ?"

"मेरा मन तो इस विषयमें कुछ करना नहीं चाहता । यदि दो वर्ष बाद भी उपमन्यु को ऐसा ज्ञान मिला, तो उससे उसको हानि क्या होगी ? वह आज ही प्राप्त करना चाहे, तो मैं कौन उसे रोकता हूं ? और दो दिन बाद प्राप्त करना चाहे, तो हम किस लिए उतावली करें ?"

"देखो फिर ! एक बार स्वीकार कर चुके हो, तो अब बदलो नहीं । क्या आश्रम में मेरी इतनी भी नहीं चलेगी ?"

"अच्छा तो जाओ । तुम्हारी इच्छानुसार सब कुछ हो जायगा ।"

* * *

सवेरा हुआ । आश्रम-वासियों ने निद्रा त्यागी ।

"उपमन्यु । आज तुम्हें ढोर चराने जाना है । देखना भला देर न हो जाय ।"

"जी महाराज ।"

गुरु की आज्ञा वेद-वचन जो ठहरी । शरीर का रोम-रोम मानो थिरक उठा । ऐसा लगा, मानो हाथ में लाठी आ गई हो, और पैर वन की पगडंडियों पर चलने लगे हों ! और वन के वे वृक्ष; वे हरे-भरे खेत और कलरव करते पक्षी; सभी मानो आंख के सामने आकर खड़े हो गये ।

अन्दर से आवाज आई—"कहां जाओगे भला ?"

उपमन्यु झटपट नहा लिया । जल्दी से गांव में जाकर भिक्षा ले आया । यथेच्छ भोजन कर लिया, और फिर गायों के साथ चल पड़ा ।

* * *

सांझ हुई। उपमन्यु गायों के साथ वापस आश्रम में आया, और जहां गुरु हवन कर रहे थे, वहां हाथ जोड़ कर खड़ा रहा।

"कौन उपमन्यु! गायें चरा लाये, बेटा! किन्तु आज तुमने भोजन का क्या किया ?" ऋषि ने पूछा।

"भिक्षा मांगकर ले आया था और खाकर ही गया था।"

ऋषि गम्भीरता से बोले—"गुरु को निवेदन किये बिना जो भिक्षान्न खाता है, वह पापान्न खाता है। कल भी तुम्हीं को गायें चराने जाना है। समझे ?"

"जी, महाराज।"

* * *

दूसरे दिन का सवेरा हुआ, और उपमन्यु झटपट भिक्षा मांगने निकला। जो भिक्षा मिली, गुरु के सामने लाकर रख दी। गुरु ने सारी भिक्षा अपने काम में ले ली। उपमन्यु बाहर आया और सोचने लगा कि गुरु ने कोई भिक्षा छोड़ी नहीं है, तो योंही वन को चला जाऊं।

किन्तु इतने में अन्दर से किसी ने कहा—"भूख जो लगेगी।"

उपमन्यु चल पड़ा—दुबारा गांव में भिक्षा लेने। भिक्षा लाकर यथेच्छ भोजन किया, फिर गायें चराने निकला।

दूसरा दिन भी पश्चिम में ढला, उपमन्यु हवन कुण्ड के पास आकर खड़ा हुआ।

"कौन उपमन्यु! आ गये बेटा! आज भोजन का क्या किया ?" गुरु ने पूछा।

"आज दूसरी बार भिक्षा ले आया था, और यहीं से खाकर गया था।"

"यह उचित नहीं। शिष्य गांव मे एक ही बार भिक्षा मांगकर लायें। कल भी तुम्हींको गायें चराने जाना है, समझे?"

"जैसी आपकी आज्ञा!"

तीसरे दिन सवेरे उपमन्यु गाव से भिक्षा लेकर आया और उसे गुरु के चरणों में रख दिया; फिर वह गायों के साथ वन की ओर चल पड़ा।

"घोर, घना जंगल! ऐन दुपहरी में भी अन्दर धूप का प्रवेश न हो पाता था। गायें सब छाह में बैठी जुगाली कर रही थीं। उपमन्यु एक पेड पर चढ़कर हाथ-पैर फैलाये लेटा हुआ था। कुछ देर तक वह सामवेद के मन्त्र गाता रहा, फिर कुछ देर पक्षियो को बुलाता रहा। थोड़ी देर तक वंशी बजाई। किन्तु फिर तो वह थक गया। उसका पेट चिपक गया था, आंखें अन्दर धंस गई थीं, मानो उपमन्यु, उपमन्यु न रह गया हो! वह मन-ही-मन गुनगुनाने लगा—"गुरु ने भिक्षा में से कुछ खाने को दिया नहीं, और दुबारा भिक्षा मागकर लाने से रोक दिया। आज का दिन भूखा ही रह लूंगा, तो क्या हो जायगा? इससे भूख पर काबू आयेगा। किन्तु इस तरह भूख सहने से लाभ क्या? इन गायो के ये आचल टूटे-से पड़ते हैं, इनका थोड़ा दूध पी लू, इसमें गुरु की आज्ञा का कोई उल्लघन नहीं।"

उपमन्यु पेड पर उठ बैठा। धीमे-धीमे वह नीचे उतरा और गायो के आंचल से दूध पीकर उसने अपनी भूख बुझा ली।

तीसरा दिन भी डूबा और उपमन्यु अग्नि-शाला में उपस्थित हुआ।

"कहो बेटा? आज किस चीज ने भूख मिटाई?"

"गायों के दूध से।"

"यह दूध तो बछडो के लिए और होम के लिए है; तुम इसे नहीं पी सकते। कल भी तुम्हीं को गायें चराने जाना है। गायों को छूकर उनका दूध न पीना, भला!"

"जैसी आज्ञा।"

चौथे दिन भी उपमन्यु गायें लेकर चला। "जब गुरु मेरी परीक्षा ही लेना चाहते हैं, तो आज मैं कुछ भी न खाऊंगा। एक दिन न खाने से कोई मर थोड़े ही जाता है?"

उपमन्यु पेड़ पर बैठकर बांसुरी बजाने लगा। किन्तु बांसुरी कब तक बजाता? दूर पर गायों को चरते देख उसका मन चल-विचल हो उठा। उनसे रहा न गया। अन्दर से मानो कोई धक्का मार रहा हो, इस तरह वह अचानक उठ बैठा। "गुरु ने गाय का दूध पीने की मनाही की है। वह दूध बछड़ो के लिए है। सच है, किन्तु बछड़ों के पी चुकने पर?"

पेड़ से नीचे उतर कर उपमन्यु ने एक बछड़ा छोड़ दिया, और बछड़ा अपनी मां का दूध पीने लगा। इधर उपमन्यु उसके मुंह से दूध के झाग समेट-समेट कर अपने मुंह में रख रहा था। इस तरह आठ दस बछड़ों के झाग से तृप्त होकर उपमन्यु आश्रम की ओर लौटा।

"कहो उपमन्यु! आज दूध-दूध तो नहीं पिया न?"

"जी नहीं, दूध नहीं पिया; किन्तु दूध पीते बछड़ो के मुंह पर जो झाग आते थे, सो चाटे हैं।"

गुरु बोले—"हमें झाग भी न चाटना चाहिए। झाग में तो सारा सत्व रहता है। कल झाग भी न लेना।"

"जैसी आज्ञा।"

जंगल का पांचवां दिन तो उपमन्यु के लिए ब्रह्मा का दिन बन गया। झाड़ पर लेटता था और फिर उठ बैठता था। कभी वेद के मंत्रों का गान करना, और कभी पीपल के पत्ते तोड़-तोड़ कर पानी में फेंकता।

सूर्य अस्त होने आया; गायों ने घर की राह ली। उपमन्यु पीछे-पीछे चला आ रहा है। मन में सोच रहा है—"आज तो भूख पर विजय मिली!"

किन्तु मार्ग में अच्छे मजे के थूहर दिखाई पड़े, और उपमन्यु का मन डोला—"नहीं-नहीं, अब तक कुछ नहीं खाया, तो अब क्यों खाऊं? किन्तु चलूं, देखूं तो सही। कितने सुन्दर ये फल हैं! और इन फलों पर तो किसी का अधिकार नहीं। ये होम-हवन के भी काम नहीं आते।"

अभी सोच ही रहा था कि हाथ आगे बढ़ गया, और थूहर के फल अपने डण्ठलों से अलग होने लगे। इतने में थूहर के दूध की एक धार आंखों में आ गिरी, और तत्क्षण अन्धता छा गई! दुनिया सारी अंधेरे में डूब गई। पगडंडी, पेड़, गाय, कुछ भी दीखता न था। गायों के खुर की आवाज के सहारे उपमन्यु कुछ ही दूर चला था कि वह एक बड़े खन्दक में जा गिरा और गिरते ही उसे अपनी क्षुद्रता का बोध हो गया। "अरे उपमन्यु! गुरु के इतना कहने पर भी तू अपनी भूख को रोक न सका? तू बड़ा गवार है। अब तो इस खन्दक में ही तेरी मौत लिखी दीखती है। गुरो! मुझे क्षमा करो! मेरे कसूर माफ करो! मैं आपकी आज्ञा के अक्षरार्थ से ही चिपटा रहा, इसकी मुझे माफी दो! अगले जन्म में भी आप ही मेरे गुरु रहें। गुरु-पत्नी! मुझे अपनी कोख से जन्म देना!"

उपमन्यु इधर-उधर हाथ-पांव पटक रहा था, कि इतने में आगे को उभरी एक चट्टान उसके हाथ लग गई और वह उसपर चढ़ गया। उसका शरीर थर-थर कांप रहा था।

आश्रम में हवन का समय हुआ। गुरु उपमन्यु की बाट जोह रहे थे; किन्तु उपमन्यु दिखाई नहीं पड़ा। ढूंढ-खोज करने से मालूम हुआ कि गायें तो सब लौट आई हैं, पर उपमन्यु नहीं आया।

"तो मेरा उपमन्यु कहां रह गया? क्या कोई हिंस्र पशु उसे फाड़कर खा गया? उसे सांप ने तो नहीं डंस लिया? मेरा उपमन्यु भूखों तो नहीं मर गया?" ऋषि-पत्नी विह्वल हो उठी।

गुरु उपमन्यु को ढूंढ़ने चले। कुछ शिष्य भी उनके साथ हो लिये। जंगल में जाकर गुरु ने पुकारा—"उपमन्यु, बेटा उपमन्यु!"

"गुरुजी! गुरुजी! मैं तो यहां अन्धे कुएं में पड़ा हूं।"

जिस ओर से आवाज आई थी, गुरु और शिष्य उसी ओर बढ़े। इतने में उपमन्यु ने पुकारकर कहा—"जी, यह तो एक बड़ा-सा खन्दक है। आप दूर ही रहिए, नहीं, अन्दर गिर पड़ेंगे।"

सब खन्दक के समीप आये। गुरु ने पूछा—"बेटा तुम अन्दर कैसे गिर पड़े?"

"अपने पाप के कारण। गुरुजी, मैं अंधा हो गया हूं।"

"एं, अंधे! अन्धे कैसे हो गये?"

उपमन्यु ने खंदक के अन्दर से गुरुजी को अपनी बीती सुनाई। गुरु का हृदय द्रवित हो उठा।

"बेटा घबराओ नहीं। तुम अश्विनीकुमार की स्तुति करो। वे देवों के वैद्य हैं। उनकी कृपा से तुम्हारा कल्याण होगा।"

उपमन्यु अश्विनीकुमारों की स्तुति करने लगा। जीवन से निराश होकर बैठनेवाला आदमी जिस आर्द्र भाव से स्तुति करता है, उसकी उपेक्षा कौन कर सकता है? अचानक खन्दक में प्रकाश छा गया, और आश्विनीकुमार आ पहुंचे।

"उपमन्यु! हमें क्यों बुलाया है?"

"देव! मैं अन्धा हो गया हूं। कृपा कर मुझे दृष्टि दीजिये।"

"बस, यही काम था? लो यह अपूप है। इसे तुम खालो। तुम्हारी आंखें तुरन्त खुल जायंगी।"

"देव! मैं इसे नहीं खा सकता। इस खाने की हाय से उबरने के यत्न में

तो मैं आपकी कृपा का भिखारी बना हूं; इन खाने ने मुझे मार डाला है।" उपमन्यु ने कहा।

"किन्तु यह तो दवा है। यदि तुम दृष्टि चाहते हो, तो तुम्हें यह अपूप खाना होगा।"

"मुझे दृष्टि मिल जाये और मैं देख सकूं तो अच्छा ही है, नहीं तो कोई बात नहीं। किन्तु गुरु की आज्ञा के बिना अब मैं कुछ भी मुंह में नहीं डाल सकता। यह मेरा निश्चय है।"

अश्विनीकुमार तनिक चिढ़कर बोले—"तुम्हारे धौम्य ने भी अपने गुरु की आज्ञा के बिना यह अपूप खाया था। क्या तुम अपने गुरु से भी बढ़ गये?"

"प्रभो, यह मेरा संकल्प है। इस संकल्प का त्याग करके मैं दृष्टि नहीं चाहता।"

अश्विनीकुमार गुरु धौम्य के पास गये, उपमन्यु के लिए अपूप खाने की आज्ञा प्राप्त की, और फिर उसे अपूप खिलाया। अश्विनीकुमारों की कृपा से उपमन्यु फिर देखने लगा, और वह खंदक से बाहर आया।

खंदक के किनारे गुरु-शिष्य भेंटे। उपमन्यु का सारा शरीर पसीने से तर हो गया।

गुरु ने कहा—"बेटा! तुम्हारी माता तुम्हारे बिना छटपटा रही होगी; चलो, झटपट आश्रम को चलें।"

सब आश्रम की ओर चल पड़े। ऋषि-पत्नी आश्रम के द्वार पर बैठी थीं; सो उठ खड़ी हुईं। उपमन्यु ने उनकी गोद में सिर डाल दिया।

"बेटा, चिरंजीव रहो! जब इन आरुणि ने आकर कहा कि तुम अन्धे हो गये हो, और खंदक में पड़े हो, तभी मेरी आंखों के सामने तो अंधेरा छा गया। यह सब तुम्हारे गुरु का दोष है।"

"दोष मेरा या तुम्हारा?" गुरु हसे।

"मैंने तुम्हें इतना कठोर कभी न जाना था। ये सब तुम्हारे बच्चे हैं या दुश्मन? यदि मुझे इस आश्रम में रहने देना है, तो यहां ऐसी परीक्षायें नहीं चल सकेंगी।"

"तो क्या साक्षात्कार सेंतमेंत में हो जाता है? बेटा उपमन्यु! तुम्हारा अन्तेवास आज समाप्त हुआ। तुम्हारे माता-पिता तुम्हारी बाट जोहते होंगे। तुम्हें उस अन्धकूप में ही ज्ञान की उपलब्धि हो चुकी है। जाओ, तुम्हारा कल्याण हो!"

उपमन्यु ने गुरु के चरणों में प्रणाम किया, और ऋषि-पत्नी की गोद में सिर रखा। गुरु-पत्नी ने उसका सिर सूंघा, उसके भाल पर तिलक लगाया, और उसे शुभेच्छाओं के साथ विदा किया।

: ३ :

विजय किसकी ?

"क्यों, क्या मातरिश्वा अभी तक नहीं आये ? जातवेदा भी दिखाई नहीं पड़ते।" इंद्रासन पर आरूढ़ होते हुए देवराज बोले।

"अग्निदेव तो ये आ रहे हैं; मात्र मातरिश्वा नहीं आये।" पूषा ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

"जी, मुझे थोड़ी देर हो गई, वायुदेव अभी आते ही हैं।" अग्नि ने अपना आसन ग्रहण करते हुए कहा।

देवराज इन्द्र अग्निदेव की ओर देखकर बोले—"आपकी और वायु की सहायता के कारण अब की हम असुरों को पराजित कर सके। आपके बिना यह संभव न था।"

अग्नि ने उत्तर दिया—"हमने तो अपनी शक्ति देवराज के चरणों में चढ़ा दी है। वैसे, जब असुरों ने घोर कोलाहल के साथ पहली बार आक्रमण किया, तब तो हमने भी सोचा कि अब देवों का पुण्य समाप्त हुआ।"

"लीजिये, ये वायुदेव भी पधारे।" वरुण ने द्वार की ओर दृष्टि डालते हुए कहा।

"पधारिये वायुदेव !" इंद्र ने आसन दिया।

"क्या चर्चा चल रही है, महाराज ?"

"विजयोत्सव के समय और क्या चर्चा हो सकती है ? बात तो हम सबके और खासकर आपके पराक्रम की चल रही है।"

"इसमें हमने विशेष कुछ नहीं किया। यदि ऐसे समय भी हमारा बल काम न आये, तो फिर उसका उपयोग क्या?" मातरिश्वा ने थोड़े गर्व के साथ कहा। "पछिये इन अग्निदेव को। उस महासुर को मारने में हम पर क्या बीती थी?"

इस प्रकार देवसभा में चर्चा चल रही थी कि इतने में द्वार के समीप एक आकृति दिखाई दी, और इंद्र का ध्यान अचानक उस ओर गया।

"वहां द्वार पर कौन है ?"

पूषा ने देखा, वरुण ने देखा, अग्नि ने देखा, सब देवों ने देखा, और सब स्तब्ध हो गये।

"कौन है वहां?"

सब चुपचाप बैठे रहे। सब मन ही मन सहम उठे।

"अग्निदेव! हम सबमें आप सबसे अधिक तेजस्वी हैं; अतः जरा जाकर देख आइये कि वहां कौन है।"

"जी, बहुत अच्छा।"

अग्निदेव द्वार के पास पहुंचे, किंतु कुछ पूछ न सके। इस पर उस आकृति ने पूछा—"तू कौन है ?"

"मैं प्रसिद्ध अग्नि हूं। मैं जातवेदा हूं। समस्त उत्पन्न वस्तुओं को मैं जाननेवाला हूं।"

"ऐसी बात है? तो बता तुझमें कितना बल है?"

"इस पृथ्वी में और अन्तरिक्ष में जितने भी स्थावर-जंगम पदार्थ हैं उन सबको जलाकर भस्म करने की शक्ति मुझमें है।"

"तो ले, इसीको जला।" कहते हुए उस आकृति ने घास का एक तिनका उसके सामने रखा और कहा—"स्थावर-जंगम पदार्थों को जलाने की बात हम बाद में करेंगे।"

अग्नि तैयार हुआ, और तिनके पर अपने बल का प्रयोग करने लगा लेकिन तिनका सुलगे तब न ? अग्निदेव तो इस छोर पर आते, और उस छोर पर जाते; तिनके को उलटते-पलटते; किंतु एक चिनगारी भी झड़े तो कैसे झड़े ? स्थावर-जंगम पदार्थों को भस्म करने की उनकी शक्ति आज न जाने कहां चली गई !

अन्त में अग्नि हारा-थका लौट आया। उसके मुंह पर लज्जा की लाली छा गई थी। उसने सिर नीचा करके कहा—"मैं नहीं जान सका कि वह कौन है।"

सारी सभा निस्तेज हो गई। जातवेदा न जान सके, इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो ?

"वायुदेव ! वह कौन है, सो जरा आप जाकर देख आयेंगे ?"

वायु को कहने की देर थी। प्रचण्ड वेग से वह द्वार के पास पहुंचा। किंतु केवल पहुंचा ही; वहां पहुंच कर तो वह भी स्तब्ध भाव से खड़ा रह गया।

"तू कौन है ?"

"मैं मातरिश्वा, आकाश में विचरण करनेवाला, मैं प्रसिद्ध वायु हूं।"

"अच्छा ! तो तुझमें क्या बल है ?"

"पृथ्वी पर और अन्तरिक्ष में जितने भी स्थावर-जंगम पदार्थ हैं, उन सबको एक पल में उड़ा देने की शक्ति मुझमें है।"

"तो देखें, इसे उड़ाकर दिखा।" कहते हुए आकृति ने पास का वही तिनका वायु के सामने रखा और कहा—"स्थावर-जंगम पदार्थों को उड़ाने की बात हम बाद में करेंगे।"

वायु को तो उस तिनके पर अपने बल का प्रयोग करने में लज्जा-सी

मालूम होने लगी—कहां वायु, कहां तिनका! वह वेग से तिनके पर झपटा और उसे उड़ाने का भगीरथ प्रयत्न करने लगा; किन्तु तिनका तो हिला तक नहीं! वायु थका और खिसियाना होकर लौट आया।

"मैं उस आकृति को नहीं पहचान सका।"

विजयोत्सव मनाने वाले देवों की यह कैसी दशा? "हे इन्द्र, हे मघवन्, अब तो आप ही उसे पहचान कर आइये।" देवों ने कहा।

"अग्नि और वायु-जैसे तो वापस आगये। भला, वह क्या है? कौन है?" इस प्रकार विचार करते-करते देवराज इन्द्र द्वार की ओर चले। उनके पैर धीमे पड़ रहे थे; उनका श्वास मन्द था; उनका मन किसी गहरी चिन्ता में लीन हो गया। आज के विजयोत्सव की धूम-धाम से मानो वह दूर चले गये थे!

दरवाजे के पास जाकर देखा तो वहां कोई न दीखा! "इंद्रासन पर से देखी हुई आकृति कहां अदृश्य हो गई! वह कौन था? कहां चला गया?"

देवराज इन्द्र वहीं समाधि में लीन हो गये। उनका मन उस आकाश में स्थिर हुआ। कुछ देर बाद वहां, उसी स्थान पर उमा प्रकट हुई। समस्त संसार का सौंदर्य उमा में उतर आया था। उनका शरीर सोने की भांति दमकता था।

द्वार पर उमा को देख कर देवराज के हृदय में साहस का संचार हुआ, और उन्होंने पूछा—"कुछ समय पहले यहां जो था, वह क्या था?"

देवराज के दीन वदन को प्रफुल्ल करती हुई उमा बोलीं—'वे तो परमात्मा थे। ये तुम्हारे अग्नि और वायु स्वयं जिस बल का अभिमान करते हैं, वह बल उन्हें कहां से मिला है? तुम देव और असुर, दोनों एक ही प्रजापति के पुत्र हो, और असुर तुमसे बड़े भी हैं। फिर भी विजय तुम्हें कैसे मिली, सो तुम जानते हो? तुम्हें इस बात का होश है कि तुममें जो कुछ है, सो

परमात्मा का है, और तुम तो निमित्तमात्र हो ? इसी कारण तुम देव हो, और इसीसे तुम्हारी विजय है। असुर परमात्मा की परवाह नहीं करते, और इस अभिमान में मस्त रहते हैं कि वे स्वयं ही सब कुछ हैं। इसीलिए वे असुर हैं।"

"मेरी समझ में नहीं आया कि परमात्मा आये क्यों और गये क्यों ?"

"सुनो। असुरों को हराकर तुम सब उत्सव मनाने को एकत्र हुए। तुम तो यही मानने लगे कि तुम्हारी ही शक्ति से असुरों का पराजय हुआ है। तुमको भी अपने बल का अभिमान हो गया था, और अग्नि व वायु तो मानो फूल कर कुप्पा ही हुए जा रहे थे। यह देख परमात्मा को तुम पर दया आई। यदि तुमको भी अभिमान हो जाय, तो तुम भी असुर हुए या कोई और ?

"तुम्हें असुर बनाने से रोकने के लिए, तुम्हारे देवत्व को सुरक्षित रखने के लिए, तुम्हारे अभिमान को नष्ट कर के तुम्हें ठिकाने लाने के लिए, और यह सिद्ध करने के लिए कि संसार के देवासुर-संग्राम में विजय देवों की ही है, परमात्मा ने वह रूप धारण किया, और अग्नि एवं वायु-जैसों को चमत्कार दिखा दिया। बेटा ! जाओ तुम देवों के राजा हो। जबतक तुममें यह भाव जाग्रत रहेगा कि तुम सबमें जो शक्ति है, सो परमात्मा की है, तबतक तुम देव हो। जिस क्षण तुम्हें इसका विस्मरण हो जायेगा, उसी क्षण से तुम असुर हो। इसमें संदेह नहीं कि देवासुर-संग्राम में आखिर जीत देवों की ही है।" इतना कह कर उमा अदृश्य हो गई और देवराज सभा में लौटे।

सभा में आकर इंद्र ने देवों को सारी बात कह सुनाई। सुनकर अग्नि और वायु को भी होश हुआ; और सब के मन में क्षण भर के लिए जो असुरावेश आ गया था, वह निकल गया।

इंद्र ने पूछा—"विजय किसकी ?"

अग्नि ने कहा—"विजय परमात्मा की।"

इंद्र ने पूछा—"विजय किसकी?"

वायु ने उत्तर दिया—"परमात्मा की।"

इंद्र ने पूछा—"विजय किसकी ?"

सबने एक साथ कहा—"विजय परमात्मा की ही, अन्य किसी की नहीं।"

: ४ :

ब्रह्मा का गर्व

एक बार ब्रह्मा को गर्व हुआ।

"कितनी मनोहर है, मेरी यह सृष्टि ! आकाश से बात करने वाले ये बड़े-बड़े पर्वत, हिमालय की गोद से निकल कर बहने वाली ये गंगा-यमुना, ये लम्बे-चौड़े मैदान, यह विशाल महासागर, ये सब कितने सुन्दर हैं ! सांझ-सवेरे आकाश में रंगों का चौक पूरती यह सन्ध्या मैंने न बनाई होती तो ? और तारों व नक्षत्रों से जगमगानेवाला यह आकाश ! मेरे हाथ पर से प्रतिदिन न जाने कितने मनुष्य उतरते हैं; पशु-पक्षी और कृमि-कीटों की तो गिनती ही क्या ? यह सब मेरे हाथों होता है ! मैं न करूं, तो और कौन करे ? यह सब मेरी शक्ति का प्रभाव है !"

इस तरह सोचते-सोचते ब्रह्मा उठ खड़े हुए। उनकी छाती फूली, उनकी दृष्टि एक बार अपनी समस्त सृष्टि पर दौड़ गई, और अन्त में दूर के एक रास्ते पर पड़ी, और जहां की तहां ठिठकी रह गई !

ब्रह्मा ने आज तक सब प्राणी उत्पन्न किये थे, किन्तु ऊंट नहीं बनाये थे। रास्ते पर ब्रह्मा की दृष्टि पड़ते ही उन्होंने देखा, दोन्दो की कतार में ऊंटों की एक पांत चली जा रही है। ऊंटों पर कोई बैठा नहीं है किन्तु प्रत्येक ऊंट की पीठ पर एक-एक बड़ी सन्दूक रस्सी से बंधी है। ब्रह्मा के आश्चर्य का पार न रहा।

"मुझे तो याद नहीं पड़ता कि मैंने ऐसा जानवर कभी बनाया हो !

ऐसी लम्बी गर्दन और यह लटकता ओंठ मैंने कभी नहीं बनाया। किसी प्राणी के ऐसे अंग मैं कभी बना सकता हूं ? तो फिर यह जानवर आया कहां से ?"

ब्रह्मा तो गहरे विचार में डूब गये। अपने बनाये हुए आज तक के सभी प्राणियों को एक-एक करके याद कर गये; फिर भी तो नया ही था। और ऊंटों की पांत तो एक के बाद एक चली ही आ रही थी। ब्रह्मा पूछे भी किससे कि भाई, यह जानवर क्या है, और कहां से आया है ? ऊंटों के साथ कोई आदमी भी तो दिखाई नहीं पड़ता! सुबह दिन उगने से लेकर सांझ को दिन डूबने तक ऊंटों की कतारें आती ही रहीं और ब्रह्मा भूख-प्यास भूल कर यह नाटक देखा किये।

इतने में शाम हुई। ब्रह्मा का बनाया सूर्य पश्चिम दिशा में ढल पड़ा, और अदृश्य हो गया। ब्रह्मा की अपनी बनाई संध्या आकाश में खिल उठी, और दूर एक ऊंट पर बैठे हुए आदमी के चेहरे पर चमकने लगी। दूर ऊंट पर बैठे हुए उस आदमी को देखकर ब्रह्मा के जी-में-जी आया, आशा हुई कि अब कुछ पता चल सकेगा।

जैसे-जैसे वह ऊंट निकट आता गया, उस पर बैठा हुआ आदमी अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगा। उसके शरीर का रंग बादलों के रंग से मिलता था, उसके हाथ में एक लाठी थी, लाठी वाले हाथ को कमर पर रख कर और लाठी को पैर की अंगुलियों में उलझा कर वह चारों तरफ देखता था। उसके पास एक मजबूत रस्सी थी।

ज्यों ही ऊंट निकट आया ब्रह्मा ने पुकारा; किन्तु वह आदमी चारो ओर देखते हुए भी ब्रह्मा की तरफ नहीं देखता था!

"अरे, ओ भाई!"

आदमी ने सामने नहीं देखा।

"अरे, ओ भाई!"

वह भला क्यों किसी की ओर देखने लगा? मानो कुछ सुनता ही नहीं।

"अरे, ओ . भा ई!"

आदमी ने अत्यन्त शांति के साथ गरदन घुमाकर ब्रह्मा की ओर देखा। उसकी आंखें नीचे को झुकी हुई थीं, ऐसा लगता था, मानो उसके लेखे ब्रह्मा कोई चीज न था।

ब्रह्मा ने पूछा—"भाई! ये सब जानवर किनके हैं? और तुम इन सबको लेकर कहां जा रहे हो?"

आदमी ने उत्तर दिया—"तुम्हें इनसे क्या मतलब है? मुझे जाने की जल्दी है। सांझ तो हो गई। मुझे व्यर्थ रोको मत।"

"किंतु भाई, कुछ कहो तो सही! तुम मुझे पहचानते नहीं? मैं ब्रह्मा हूं। यह सारी सृष्टि मैंने बनाई है, किंतु यह जानवर मैंने अभी तक नहीं बनाया। मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर यह आया कहां से। इन सब जानवरों को किसने बनाया है, और तुम इन्हें कहां लिए जा रहे हो? कुछ कहो, तो मेरे मन की उलझन दूर हो।"

आदमी ने ऊंट को खड़ा किया और कहा—"अच्छा, तो सुनो। ये सब जानवर ऊंट हैं। ब्रह्मा को अभी ऐसे ऊंट बनाने का अधिकार नहीं मिला। इनमें से प्रत्येक ऊंट पर एक-एक संदूक है, और हरएक संदूक में एक-एक ब्रह्मा है।"

"एक-एक ब्रह्मा!" ब्रह्मा तो सुनकर हक्के-बक्के रह गये।

"हां, हरएक में एक-एक ब्रह्मा। तुम्हारी इस एक सृष्टि के समान इस विश्व में करोड़ों सृष्टियां हैं, और प्रत्येक सृष्टि का एक-एक ब्रह्मा है। शेषशायी भगवान् के पास अभी-अभी यह शिकायत पहुंची है कि कुछ सृष्टियों के ब्रह्मा अभिमानी बन गये हैं और मन-ही-मन अपने को भू-

बैठे हैं। इसलिए भगवान् ने मुझे आज्ञा की है कि जिस सृष्टि का ब्रह्मा अभिमानी बन गया हो, उसे वहां से हटाकर रस्सी से बांध लूं, और भगवान् के सामने पेश करूं, एवं उसके स्थान पर संदूक में बैठे नये ब्रह्मा को रख आऊं।"

ब्रह्मा तो इसी बातचीत के बीच में आंखें मूंदकर ध्यान में लीन हो गये थे। उनके अन्तस्तल में स्वयं, शेषशायी भगवान् अकित होने लगे।

उस आदमी ने कहा—"मुझे मालूम है कि इस सृष्टि का ब्रह्मा भी.."

किंतु सुने कौन? ब्रह्मा के कान तो अन्दर पैठ गये थे। इन्द्रियां सब निश्चल थीं।

सुदूर पूर्व में चन्द्रमा झांकने लगा; और कुछ देर बाद ब्रह्मा का ध्यान भी समाप्त हुआ। उनकी आंखें निर्मल थीं। देखते क्या हैं कि न तो वहां वह आदमी है, न वे ऊंट हैं, न पेटियां!

आर्द्र हृदय से ब्रह्मा पुकार उठे—"हे प्रभो! हे देवाधिदेव! मैं ब्रह्मा हूं, तुम्हारे नाभिकमल से जन्मा हूं, और तुम्हारी शक्ति द्वारा काम करता हूं। मैं तुम्हें भूल गया, और मुझे ठिकाने लाने के लिए तुम्हे इतना कष्ट उठाना पड़ा। दयालो! मुझे सद्‌बुद्धि दो। मूल से विच्छिन्न होकर मैं कैसे टिक सकता था? प्रभो! तुम्हारी जय हो, जय हो, जय हो!"

: ५ :

हंसकाकीयम्

गंगा के किनारे बरगद का एक बड़ा पेड़ था और उस पेड़ के आसरे पक्षियों की एक बड़ी बस्ती रहती थी।

पूर्व में प्रभात हुआ। सारी रात जो बरगद गूंगा बना रहा, वह अब ानो जमुहाई ले कर और आलस मरोड़ कर उठ बैठा; जैसे उसकी वाणी ा स्रोत फूट पड़ा हो। भागीरथी का धीर, गम्भीर नीर कल-कल छल-छल ाद के साथ बह रहा था। ऐसे समय तीन हंस बरगद के नीचे आ पहुंचे। ुद्ध श्वेत वर्ण वाले मानस-सरोवर के राजहंस! सफेद झक उनके पर, ौर मोती-मराल का दाना चुगने वाली उनकी सुन्दर लाल चोंचें! ाज वे कोई पचास कोस का मार्ग तय कर के आये थे; उनके मुंह पर ौर उनके पंखों पर थकान की तनिक-सी छाया थी।

पंख समेट कर हंस बरगद के नीचे बैठे।

बड़ पर एक कौवा रहता था। काजल-से काले उसके पर, और परों े भी अधिक काली उसकी चोंच। दोनों आंखों में से एक आंख फूटी, और दो पैरों में एक पैर लंगड़ा। जीभ पर सरस्वती विराजती थीं!

हंसों को देख कर कौवाभाई फाद-फांद करके फुदकने लगे, कभी गरदन टेढ़ी करते, कभी आंखें घुमाते, कभी एक डाल से उस डाल पर फुदक कर बैठते, और कभी अपनी चोंच साफ करने लगते!

"यह कौन बैठा है यहां?" कौवे ने अत्यन्त तिरस्कार-पूर्वक कहा और अपनी एक टांग उठाकर उसने हंसों पर चिरक दिया। हंस आराम से बैठे थकान उतार रहे थे। उनमें से एक हंस बेताब हो उठा; अभी उसकी जवानी फूट ही रही थी। कौवे की बीठ पड़ते ही नौजवान हंस ने ऊपर देखा।

"अरे, तुम कौन हो? यहां क्यों आये हो? क्या यह बड़ तुम्हारे बाप का है?" कौवे ने पूछा।

हंसों ने जवाब नहीं दिया। यह देखकर कौवे को और जोश आ गया। वह चार डाल नीचे उतरा, और ज्यादा जोर से कांव-कांव करने लगा। बोला—"अरे, बोलते क्यों नहीं हो? मुंह में जीभ-चीभ है या नहीं?"

कौवा और दो चार डाल नीचे उतर आया। अबकी वह बिल्कुल ही पास आ गया। उसका कांव-कांव तो जारी ही था।

कौवे के कर्कश स्वर से थककर एक हंस ने उत्तर दिया—"हम राजहंस हैं। आज लम्बा पथ पूरा कर के थक गये हैं। इसलिए कुछ देर यहां बैठकर विश्राम कर रहे हैं। अभी चले जायेंगे?"

"तो कुछ उड़ना-उड़ाना भी जानते हो, या यों ही इतने बड़े-बड़े पंख लिये बैठे हो?" कौवाभाई तो फूले नहीं समा रहे थे। फिर बड़ पर चढ़ गए, और उड़ने लगे।

नौजवान हंस कौवे की ओर टकटकी लगाये था।

किंतु कौवे से कहीं रहा जाता? बोला—"यों घूर-घूरकर क्या देख रहे हो? उड़ना जानते हो, तो आ जाओ। मैं इक्यावन तरह की उड़ानें उड़ना जानता हूं। देखो, यह दूसरी, यह तीसरी, और देखो, यह चौथी, और यह बिल्कुल नई!"

कौवे की इक्यावन उड़ानें! बांई आंख मूंदे और एक उड़ान हो जाय,

दाहिनी मूंदे और दूसरी; चोंच को ऊपर उठाये रखे, तो तीसरी, और नीचे झुकाये रखे, तो चौथी। इस तरह कौवे ने अपने इक्यावन प्रकार तैयार कर रखे थे, और खेल मारा बरगद के आसपास !

दो चार प्रकार की उड़ानें दिखाकर कौवा फिर नीचे उतर आता, छाती फुलाता, ऐंठकर चलता, हंसों के सामने आता, और कहता—"ऐसा कुछ जानते हो ?"

इस तरह कौवे की इक्यावन तरह की उड़ानों का प्रदर्शन पूरा हुआ। किंतु हंस जवाब दें तब न ? हंसों की चुप्पी से कौवे महाशय का हौसला और भी बढ़ गया और वह बोले—"है हिम्मत मेरे साथ उड़ने की ? इक्यावन प्रकार में से कोई दो-चार तो उड़कर दिखाओ। दीखते तो ऐसे-वैसे हो ! शरम नहीं आती ?"

वृद्ध हंस चुप ही रहे, किन्तु उस युवक हंस का खून खौल उठा। बोला—"दादा ! मुझे जाने दो न ?"

"इस कौवे को सात पीढ़ियों में कभी हम देते नहीं। हम तो मानस-सरोवर के राजहंस हैं। हम इस कौवे के मुंह क्यों लगें ? हम इसके साथ होड़ में उतरें तो इसे व्यर्थ की झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाये। भले न दबता रहे ! हम तो अभी चल पड़ेंगे। उस अनुभवी हंस ने जवाब दिया।

किंतु इससे उस नौजवान के मन को संतोष न हुआ। उसके पंख कुल-बुलाने लगे; उसका दिल कुलबुलाने लगा। बोला—'ना दादा ! मुझे तो जरा इसे दिखाने दो ?"

"नहीं भाई, नहीं।"

किंतु जवानी आखिर जवानी ! नौजवान हंस सामने आया और बोला—"भाई ! तुम्हें इक्यावन उड़ानें आती हैं, उतनी तो मैं नहीं जानता। पर एक उड़ान जानता हूं।"

"कितनी, एक? छिः छिः! एक में क्या धरा है?"

नौजवान हंस बोला—"उस एक उड़ान में तुम मेरे साथ उड़ना चाहो, तो चलो।"

कौवाभाई छाती फुलाते हुए आगे आये और बोले—"एक ही? बस, केवल एक? अच्छा तो चलो, एक तो एक ही सही; लेकिन मेरी इक्यावन उड़ानें तो देख ली हैं न? एक और इक्यावन का फरक तो समझते हो न?"

और दोनों की एक उड़ान शुरू हुई। टेढ़े-तिरछे उड़ने वाले कौवा-भाई आगे और धीरे गतिवाला नौजवान हंस पीछे। कौवाभाई का खेल तो रोज बड़ के आस-पास ही होता रहता था, किंतु आज दोनों नदी की ओर मुड़े। दोनों ने गंगा के घुटने-घुटने पानी को पीछे छोड़ा, और आगे बढ़ गये। कौवे के हर्ष का पार न था। कौवाभाई जोर मार कर बराबर आगे रहने की कोशिश करते थे, और हंस तो सहज भाव से उड़ता चला जा रहा था। कुछ दूर आगे जाने पर कौवा मुड़ा और बोला—"इतने पीछे क्यों रह जाते हो? थक गए हो, तो कह देना। कहने में शरम-संकोच न रखना। यह तो 'पानी' का काम है। हम तो रात-दिन के अभ्यासी ठहरे, तुम्हारी हमारी बराबरी क्या?"

हंस ने कहा—"कोई बात नहीं, उड़े चलो।"

और आगे कौवा, पीछे हंस।

फिर कुछ दूर उड़ने के बाद कौवाभाई बोले—"तो अब तुम थक गये होगे, चलो अब लौट चलें।"

हंस ने शांति-पूर्वक जवाब दिया—"नहीं, नहीं। मैं तो तनिक भी नहीं थका हूं। तुम उड़े चलो, मेरी फिकर न करो।"

आगे-आगे कौवाभाई, और पीछे-पीछे हंस। किंतु कौवाभाई तो थक

चले। कोई-न-कोई बहाना निकालते और लौटने की बात करते, पर हंस से एक ही जवाब मिलता—"उड़े चलो।"

आखिर कौवाभाई थक गये। उनका दम फूलने लगा, और पर पानी की सतह को छूने लगे।

नौजवान हंस पीछे-पीछे उड़ता आ रहा था। बोला—"कहिये, कौवा-भाई भला, यह कौनसे प्रकार की उड़ान है? यह तो कोई नई ही उड़ान मालूम होती है!"

कुछ देर बाद तो कौवाभाई के पंख भीग गये, और सिर पानी में डूबने-उतराने लगा।

"कहिये कौवाभाई! यह आपका इक्यावनवां प्रकार तो नहीं है न? यह उड़ान इतनी कठिन क्यों लगती है?"

बिना प्यास के पानी पीते-पीते बरगद के राजा कौवाभाई बोले—"भैया! यह इक्यावनवा प्रकार नहीं। यह तो मेरे जीवन का अन्तिम प्रकार है।"

राजहंस को दया आ गई; वह फुर्ती से कौवे के पास पहुंचा, और उसे अपनी पीठ पर बैठा लिया।

हंस ने कहा—"भाई! मुझे तो एक ही उड़ान आती है। अब जरा देखो मेरी यह एक उड़ान। अच्छी तरह जमकर बैठना, भला!"

और हंस तो उड़ा सो उड़ा। हिमालय के शिखरों को पार करके मानस-सरोवर तक पहुंचने वाला राजहंस, गंगा के पाट को चीरकर उस पार पहुंचा और वहां से एक लम्बा चक्कर लगाकर, कौवाभाई को विशाल आकाश-दर्शन कराता हुआ वापस बरगद के नीचे आ गया। हंस को नीचे उतरा देख कौवाभाई की जान-में-जान आई।

३

लेकिन आखिर कौवाभाई तो कौवाभाई ही ठहरे!

हंस ने जमीन पर पैर रखा, इतने में तो कौवा कांव-कांव करता, पीठ पर से उड़कर पेड़ पर पहुंच गया, और बाद में बरगद की उसी डाल पर से एक बार फिर हंसों पर चिरक दिया! कौवा और क्या करता?

कुछ देर बाद राजहंस उड़ गये।

: ६ :

समुद्र-मंथन

कश्यप के दिति और अदिति दो स्त्रियां थीं। दिति के पुत्र दैत्य, और अदिति के देव। दैत्य उम्र में देवों से बड़े थे। दैत्यों का शरीर-बल देखकर देव तो त्राहि-त्राहि चिल्लाते हुए भाग खड़े होते। विद्या में भी ये दैत्य देवों से रत्तीमात्र कम न थे। इन दैत्यों और देवों के बीच सनातन वैर था। सूर्य उगे बिना रहे, तो देव-दानव लड़े बिना रहें।

देवों को मारना, पीटना, सताना, दुनिया में खाना, पीना और मौज उड़ाना; इस तरह बरतना, मानो दुनिया में दूसरा कोई है ही नहीं, ये सब काम थे, जिनमें दैत्यों को अनोखा आनन्द आता था। देव बिचारे गरीब ठहरे, अधर्म करते उनका दिल कांपता था, ऋषियों के कदम पर उन्हें श्रद्धा थी, समूचे विश्व का नियंत्रण करनेवाली सत्ता में उनकी आस्था थी, बेचारे कपट-युद्ध में हारते, तो दौड़कर भगवान् विष्णु के पास जाते और उनके सामने अपना दुखड़ा रोते।

एक बार युद्ध में देव केवल हारे ही नहीं, बल्कि सर्वनाश के किनारे पहुंच गये। देवों के अनेक योद्धा जो धरती पर गिरे, सो फिर उठे ही नहीं, और इस तरह उनकी सेना क्षीण होने लगी। इन्द्र, अग्नि और वरुण के समान धुरन्धरों को चिन्ता ने घेर लिया। अन्त में त्रस्त होकर सभी भगवान् विष्णु के पास पहुंचे और हाथ जोड़कर बोले—'प्रभो! अब तो हम हार गये। ये दानव हमें सुख से नहीं रहने देंगे। ये [illegible] हैं सो न [illegible]

कैसे इनकी सेना जैसी-की-तैसी बनी रहती है ! किन्तु हम तो क्षीण होते चले जा रहे हैं । प्रभो ! अब आप ही हमें मार्ग दिखाइये ।"

भगवान् ने कहा—"देवो ! मैं सब समझता हूं, मेरे पास इसका उपाय भी तैयार है । जबतक आप सब अमृत नहीं पियेंगे, तबतक आपके लिए कोई निस्तार नहीं, अतएव श्रेष्ठ उपाय तो यही है कि आप सब अमृत पियें ।"

एक देव ने कहा—"प्रभो ! लाइये न, अभी ही पी लें । हम कौन इन्कार करते हैं ।"

विष्णु बोले—"अमृत किसी और ने आपके लिए तैयार करके नहीं रक्खा है । वह तो आपको स्वयं प्राप्त करना होगा ।"

इन्द्र ने नम्रतापूर्वक पूछा—"प्रभो ! कृपया बताइये, हम यह अमृत कैसे प्राप्त कर सकते हैं ।"

विष्णु ने कहा—" इस अमृत की प्राप्ति के लिए तो आपको सागर का मन्थन करना पड़ेगा ।"

"सागर का मन्थन ?" अग्नि ने पूछा ।

"सागर के जल को बिलोना होगा ?" वायु बोले ।

भगवान् ने उत्तर दिया—"हां, सागर का मन्थन करना होगा । किंतु ऐसे महान् क्षीरसागर को बिलोना अकेले आपके बूते की बात नहीं ।"

"तो फिर हमें क्या करना चाहिए ?" इन्द्र ने पूछा ।

"इस मन्थन में आप दैत्यों को भी अपने साथ रक्खें ।"

"प्रभो ! तब तो हम बेमौत मर जायेंगे । यदि मन्थन में दैत्य भी साथ रहे, तो वे अमृत को हाथों-हाथ उठाकर ले भागेंगे । हमारे हिस्से तो मंथन में पसीना बहाना ही रह जायगा ।" इन्द्र ने कहा ।

भगवान् बोले—"भाइयो ! बात ऐसी नहीं । जरा धीरज से काम

लो। समूचे सागर को बिलोना तुम्हारे सामर्थ्य की बात नहीं है। तुम दैत्यों के साथ मिल कर ही यह मन्थन करो। मैं भी इस मन्थन में तुम्हारे साथ हूं न? प्रबन्ध ऐसा किया जायगा कि मन्थन का अमृत तुम्हीं को मिले, और दैत्यों को न मिले। तुम इसकी चिन्ता न करो।"

फिर तो देवों ने दैत्यों को समझाया और अमृत की लालसा से दैत्य बड़े उत्साह के साथ उनके सहयोगी बन गये। ऐसे महान् मन्थन के लिए मन्दार पर्वत को मथानी बनाई गई, और वासुकी से रस्सी का काम लिया गया।

भगवान् विष्णु, देव और दैत्य मिल कर सागर का मन्थन करने लगे। वासुकी को मन्दार के चारों ओर लपेट कर उसका मुंह वाला भाग विष्णु ने और देवों ने पकड़ा, और पूंछ वाला भाग दैत्यों के लिए रखा। इस पर दैत्य गुस्सा हो गये। बोले—"तुम मुंह के पास का उत्तम भाग पकड़ो, और हमारे लिए पूंछ वाला हिस्सा रहने दो, यह कैसे हो सकता है? हमें मुंहवाला भाग पकड़ने दो।"

इन्द्र, अग्नि आदि सोच में पड़ गये—"यह तो सिर मुड़ाते ही ओले पड़े! पहले ही कौर में मक्खी! अभी अमृत तो निकला नहीं और झगड़ा शुरू हो गया।"

किन्तु विष्णु ने देवों के कान में कहा—"यह जगह इन काली खोपड़ी वालों के लिए ही है। वहां मुंह के पास वासुकी के विष की ज्वाला उठेगी। इस जगह इन्हें ही रहने दो और चलो, हम सब पूंछ के पास चलें।'

अन्त में देवों ने पूंछवाला भाग पकड़ा और दैत्यों ने मुंहवाला भाग सम्भाला।

और फिर तो धम-धम, धमाधम, धमाधम, घरर-घरर मन्थन का

काम शुरू हुआ। मन्दार एक चक्कर घूमता और सागर सारा तले-ऊपर हो जाता—उसकी सतह पर झाग ही झाग छा जाते !

कुछ ही देर बाद मन्दार पर्वत समुद्र के अन्दर धसने लगा। मन्दार के लिए नीचे टिकने का कोई सहारा न था, इसलिए वह अन्दर जाने लगा, और देवों के हाथ की रस्सी खिचने लगी। देव घबराये। मथानी को टेका किस चीज का दिया जाय ? मन्दार पर्वत-जैसी मथानी के लिए मामूली टेके से क्या काम चले ? देवों ने सोचा, बाजी बिगड़ना चाहती है। इतने में भगवान् बोले—"और कोई उपाय न हो, तो मैं स्वयं कछुए का रूप धारण करके मन्दार को अपनी पीठ का आधार दूंगा। आप सब हिम्मत न छोड़िये। मन्दार को बराबर टेक कर सागर को बिलोते रहिये।"

देवों के हर्ष का पार न रहा।

भगवान् विष्णु कछुआ बने। कछुए की पीठ पर मन्दार को टिकाया गया, और देवों व दानवों ने फिर मन्थन शुरू किया। मन्दार के घम-घम घूमने से सागर का जल बिलोया जाने लगा, जलचर सभी कुचले जाने लगे, और कुछ देर बाद अन्दर से सुरभि नाम की गाय बाहर निकली। सुरभि गाय को बाहर आई देख कुछ देवों और दानवों ने रस्सी खींचना बन्द कर दिया और वे गाय के लिए आतुर बन गये।

"यह गाय मेरी है।"

"यह सुरभि तो हम लेंगे।"

कुछ क्षणों के लिए वहां कोलाहल-सा मच गया, मन्थन शिथिल पड़ने लगा, इतने में सागर के अन्दर से गम्भीर आवाज आई—"मन्थन चलने दो, मन्थन शिथिल न करो। इस सुरभि के जैसे तो अनेक पदार्थ मन्थन के कारण प्राप्त होंगे। किन्तु हमें इनसे कोई मतलब नहीं, हमें तो

अमृत से काम है। जबतक वह अमृत न निकले, हमें आराम नहीं करना है। ये सुरभि आदि जो पदार्थ निकलेंगे, उनके उपयोग की बात हम बाद में सोच लेंगे।"

देव-दानव जान गये कि यह तो स्वयं भगवान् ही बोल रहे हैं, इसलिए उन्होंने फिर से रस्सी कसी, और मन्थन पूरे वेग के साथ शुरू हो गया। फिर तो मन्थन से वारुणि निकली, पारिजातक प्रकट हुआ, अप्सरायें उत्पन्न हुईं, कौस्तुभ मणि बाहर आई, शांत, शीतल चन्द्रमा ऊपर आया और उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा सतह पर आ गया। जबतक ये सब चीजें निकलती रहीं, देव और दानव दृढ़ रहे और मन्थन में कोई शिथिलता न आई। किन्तु मन्थन करते-करते जब भयानक तरह हालाहल विष ऊपर तैर निकला, और उस विष से ज्वालायें प्रकट होने लगीं, तब तो सभी घबराये। सब सोचने लगे कि अब घड़ी-दो घड़ी में प्राणिमात्र का संहार हो जायेगा। देव और दैत्य तो मथानी और रस्सी छोड़ कर भागने लगे, और हालाहल विष ने उनका पीछा किया। देवों ने पुकारा—"हे प्रभो! अमृत निकालते-निकालते यह तो विष निकल आया। बचाओ, प्रभो बचाओ!"

पुनः एक बार सागर के अन्दर से धीर-गम्भीर वाणी सुनाई पड़ी—"घबराओ मत। ऐसे समुद्र-मन्थन में तो विष भी निकलता है और अमृत भी। यदि हमें अमृत लेना है, तो विष को पचा जाने की शक्ति अपने एक महेश्वर में है। प्राणिमात्र के हित के लिए वे यह विष पी लेंगे। ऐसे प्राण-घातक विष को पीने का अधिकार महेश्वर जैसों को ही है।"

सबके देखते हुए हृदय से यह सब हुआ, और फिर स्वयं शंकर ने उस विष को अपने गले में धारण किया, तब सब फिर से मन्थन के काम में लगे। अब तो मथानी दुगुने वेग से चलने लगी। वासुकि नाग रूपी रस्सी खींचते ही रहे, और थोड़ी ही देर में अमृत का कलश हाथ में लिये धन्वन्तरि देव पर दिखाई पड़े।

"आया, आया ! अमृत निकल आया !"

सबने मथानी और रस्सी फेंक दी। दानवों ने तो सीधे धन्वन्तरि के हाथ में रक्खे अमृत-कलश पर ही धावा बोल दिया।

अब क्या हो ? देव भी अमृत लेने दौड़े; किन्तु वह तो कभी का दैत्यों के हाथ में पहुंच चुका था !

देव बहुत ही घबरा गये—"हमने नहीं कहा था कि दैत्यों को साथ रखेंगे, तो अमृत की एक बूंद भी हाथ नहीं आयेगी !"

विश्व के सत्त्व भी घबरा उठे—"जो दैत्य आज बिना अमृत के प्राणिमात्र से त्राहि-त्राहि बुलवाते हैं, वे सब अमृत पी लेंगे, तो ब्रह्मा की सृष्टि कैसे चलेगी ?"

इस बीच मन्थन के समाप्त होने पर भगवान् विष्णु ने मोहिनी स्वरूप धारण किया और वे समुद्र के किनारे आये। सुन्दर शरीर, सुकोमल हाथ, पतली कमर, मनोहर चाल और इन सबसे बढ़कर मधुर-मृदु हास्य !

मोहिनी को देखते ही दैत्य तो पागल हो उठे। वे अपनी सुध-बुध खो बैठे और किसी अदृश्य पाश से बंधकर मानो उसकी ओर खिचने लगे। दैत्यमात्र की इन्द्रियों में भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया। उनकी आंखें और उनकी वाणी का कोई ठिकाना न रह गया, और वे सब मदोन्मत्त बनकर नाचने, कूदने व खेल-तमाशे करने लगे। दैत्यो की इस मोहावस्था के बीच वह अमृत-कलश मोहिनी के हाथों में आ गया। मोहिनी ने दैत्यो को हंसाया, फुसलाया, नचाया, कुदाया, खेल खिलाये, आगे-पीछे दौड़ाया और ज्यों-त्यों करके सब अमृत देवों को पिला दिया। काम समाप्त करके मोहिनी अदृश्य हो गई।

राक्षसों में केवल एक राहु चुपचाप अमृत पी सका था। किन्तु

अभी अमृत उसके गले के नीचे उतरा ही था कि इतने में उसका सिर धड़ से अलग हो गया।

देव सब अमृत पीकर अमर बने। मन्थन समाप्त हुआ। मन्दार और वासुकी अपने-अपने स्थान को चले गये और दैत्य आपस में लड़ने-झगड़ने, झल्लाते, देवों को सताने की नई-नई योजनाओं पर विचार करने लगे।

: ७ :

सच्चा यज्ञ

"महाराज ! आप तो अनेक युगों की बातें जानते हैं। आज हमारे यहां जैसा यज्ञ हो रहा है, क्या वैसा पहले किसी ने किया था ?" भीमसेन ने श्रीकृष्ण से पूछा।

सब भोजन से निवृत्त होकर राजमहल के चबूतरे पर बैठे हाथ धो रहे थे। भगवान् वेदव्यास, भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम सभी थे।

"और सखा ! एक बात पूछूं ? यज्ञ तो कई हुए होंगे ; किन्तु देश-विदेश के राजा-महाराजा युधिष्ठिर के चरणों में अपने मुकुट रखें, देश-विदेश के भण्डार यज्ञ के लिए खाली हो जायें, देश-विदेश के राजकुमार साधारण सेवक बनने में प्रतिष्ठा अनुभव करें, चौबीसो घण्टे वेद-ध्वनि होती रहे, प्रतिदिन एक लाख पत्तलें पड़ें, ब्राह्मणों को सारे जीवन की कमाई से भी अधिक दक्षिणा मिल जाय, और अग्निदेव को इन वर्षों में इधर कभी न मिला हो, उतना घी एकही यज्ञ में मिल जाय, ऐसा यज्ञ तो मेरे विचार में, जब से यह दुनिया बनी है, तब से आज तक यह पहला ही हुआ होगा। आपका क्या विचार है ?" अर्जुन ने छाती फुलाते हुए पूछा।

युधिष्ठिर एक ओर बैठे, सिर झुकाये, हाथ धो रहे थे। उनके कान इस तरफ लगे हुए थे।

श्रीकृष्ण ने भगवान् वेदव्यास की ओर देखा। दोनों एक क्षण के लिए मन-ही-मन मुस्कराये, दोनों जगजूने योगी बात का मरम समझ गये।

इतने में नकुल बोल उठा—"जरा देखिये तो! यह कैसा विचित्र प्राणी है?"

भीम ने कहा—"इसमें देखना क्या था? यह तो नेवला है। तुम नेवले को नहीं पहचानते?"

नकुल बोला—"किन्तु यह कैसा नेवला? आधा पीला और आधा मटमैला?"

श्रीकृष्ण बोले—"दीखता तो नेवला ही है, कहिये व्यासजी, ठीक है न?"

"हां, आकृति तो नेवले की है, किन्तु है विचित्र! आधा शरीर सोने की तरह चमक रहा है।" व्यास ने शान्ति पूर्वक जवाब दिया।

युधिष्ठिर को जिज्ञासा हुई—"यह यहां, इस जूठन में, अपना बदन क्यों घिस रहा है?"

भीम बोला—"भैया, जब जानवरों को खुजली चलती है, तो सब ऐसा ही करते हैं।"

सहदेव ने कहा—"लेकिन यह तो घिसता ही चला जाता है। बारी-बारी से सिर, पैर, पीठ, अगल-बगल सभी इस जूठन में घिसा करता है। नेवले तो बहुत देखे हैं; लेकिन ऐसा तो जीवन में कभी नहीं देखा।"

"अच्छा, तो हम इसकी जांच करें।" व्यास भगवान् बोले। उन्होंने अपने कमण्डल के पानी से अंजली भरी, मन्त्र पढ़ा और अंजली का पानी नेवले पर छिड़का। छिड़कते ही वह मनुष्य की भाषा में बोलने लगा—

"झूठा है, झूठा है; युधिष्ठिर का यह यज्ञ झूठा है।"

सबके कान खड़े हो गये। युधिष्ठिर महाराज खिसिया गये। भीम और अर्जुन मन-ही-मन दहशत खा गए, पर ऊपर से हिम्मत दिखाते रहे।

अर्जुन ने कहा—"वाह रे अनोखे नेवले! ऐसे यज्ञों का क्या महत्व और मूल्य है, सो तेरे समान क्षुद्र प्राणी क्या समझे?"

भीमसेन ने ललकारते हुए कहा—"नेवले! तू बाल-बच्चों वाला होगा; इसलिए कहता हूं, जा झटपट अपने बिल में घुस जा। जानता है, मैं कौन हूं?"

"झूठा, झूठा, यह यज्ञ झूठा है!"

श्रीकृष्ण आगे बढ़े—"हे नकुल! तू नहीं जानता कि अर्जुन ऐसे महान् यज्ञ को झूठा कहने वाले की जीभ काट लेगा। और यह असंभव है कि सत्य-वादी युधिष्ठिर के यज्ञ को तू खोटा कहे और भीमसेन तुझे चूर-चूर न करे। इसलिए सोच-समझ कर बोल; यह ढिठाई तुझे मंहगी पड़ जायगी।"

"झूठा, झूठा, यह महायज्ञ झूठा है! आप सब तो देवपुरुष हैं। आप और भगवान् व्यासजी तो समूचे संसार का हृदय पढ़ सकते हैं। मैं अपनी बात आपके सामने रखता हूं। पहले आप उसे सुनिये और फिर सोचिये कि मेरा कहना यथार्थ है या नहीं।" नेवले ने जवाब दिया।

"अच्छी बात है। सब सावधान! सुनो। बोल भाई, तुझे क्या कहना है।" व्यासजी ने कहा।

नेवले ने कहना शुरु किया—

महाराज! नैमिषारण्य में एक ब्राह्मण कुटुम्ब रहता है। ब्राह्मण, ब्राह्मणी, उसका पुत्र और पुत्रवधू। वह अपना सारा जीवन तप और उपासना में बिताता है। चारों प्राणी उञ्छवृत्ति से अपना निर्वाह करते

हैं। हर सोमवार को ब्राह्मण और उसका पुत्र दोनों खेत में जाते हैं और किसानों के खलिहान से अनाज घर ले जाने के बाद जो दाने वहां बिखरे पड़े रहते हैं, उन्हें बीन कर घर ले आते हैं। ब्राह्मणी और उनकी पुत्रवधू दोनों उसे झाड़-झटक कर और बीन-चुन कर साफ करती हैं। सत्तू बनाती हैं और चारों चार भाग करके उसे खा लेते हैं। इस तरह सप्ताह में एक दिन, सोमवार को, वे अपने शरीर को भाड़ा देते हैं। शेष समय में वे भले, उनका तप भला, और भले उनके महेश्वर !

एक दिन सोमवार को ब्राह्मण और उसका पुत्र खेतों से पायली, दो पायली अनाज बीन कर लाये। घर में सास-बहू ने मिल कर उसका सत्तू तैयार किया और पलाश के पत्तों के दोने बनाये। ठीक मध्याह्न का समय हुआ; ब्राह्मण की उपासना पूरी हुई; सब भोजन के लिए अपने-अपने आसन पर आ बैठे। ब्राह्मणी ने चार दोनों में सत्तू परोसा, इतने में बाहर से आवाज आई—"भवति, भिक्षां देहि !"

ब्राह्मण तुरन्त ही दोना छोड़ कर उठ खड़ा हुआ। द्वार पर जाकर बोला—"महाराज ! पधारो, स्वागतम्।"

द्वार पर अस्सी वर्ष का एक बूढ़ा खड़ा था, ऊंचा, पूरा, कदावर शरीर किन्तु जर्जर हो चुका था, हाथ की लाठी थर-थर कांपती थी, पेट पीठ से चिपका हुआ था।

"महाराज ! पधारो।" ब्राह्मण बूढ़े अतिथि को अपने हाथ का सहारा देकर अन्दर ले गया, और उन्हें दर्भ के आसन पर बैठाया।

"महाराज ! क्या आज्ञा है ?" ब्राह्मण ने दोनों हाथ जोड़ कर पूछा।

"मुझे भूख लगी है।"

"महाराज ! भोजन तैयार है, पधारिये ।"

"मैं एक डग भी नहीं चल सकता, भाई ! जो हो, यहीं ले आओ ।" बूढ़े ने लाठी एक ओर रक्खी, और सिर पर लपेटा हुआ दुपट्टा एक तरफ रख दिया ।

"यहां चूहे वगैरा तो नहीं है न ? इस दुपट्टे में थोड़ी कोदों बंधे हैं ।" बूढ़े ने पूछा ।

"नहीं, महाराज ! झोंपड़ी में एक भी चूहा नहीं है ।"

"तो बहुत अच्छा । लेकिन, वैसे, यह अचरज की बात है कि तुम्हारे घर में चूहे का नाम नहीं ! अच्छा, अब मैं तैयार हूं । भोजन लाओ ।"

ब्राह्मण-पुत्र पिता का दोना ले आया और लाकर बूढ़े के सामने रख दिया । बूढे का हाथ दोने पर पड़ा कि फिर पूछना क्या था ? बात की बात में सब साफ !

"महाराज ! और मंगवाऊं ?" ब्राह्मण ने नम्रता पूर्वक पूछा ।

"अभी भूख तो है, कुछ हो तो लाओ ।"

तुरन्त ही ब्राह्मणी के हिस्से का दोना बाहर आया और आते ही चट हो गया !

"महाराज ! इच्छा ?"

ब्राह्मण-पुत्र का दोना आया और आते ही आते साफ हो गया !

"महाराज ! और कुछ !"

"जगह तो है, किन्तु तेरी पुत्रवधू सगर्भा है; इसलिए उसका भाग नहीं खाऊंगा ।" कहते-कहते बूढे अतिथि खड़े हो गये ।

बूढ़े अतिथि ने हाथ धोये, मुंह साफ किया, कोने में रक्खा दुपट्टा याद रख कर उठाया, और हाथ में लाठी थामते हुए बोले—"आते समय तो

मैं यों ही चला आया था, पर अब मुझे रास्ता नहीं सूझेगा, जरा साथ चल-कर कुछ दूर मुझे छोड़ आओ ।"

ब्राह्मण का लड़का बूढ़े को एकाध कोस तक छोड़कर वापस आया ।

फिर तो चारों अपने काम से फुरसत पाकर पुन. उपासना में लीन हो गये । शरीर-यात्रा के लिए जितना समय निश्चित किया था, वह बीत गया, और चारों शरीर फिर अपने काम में जुट गये ।

दूसरे सात मध्याह्न बीत गये, सात रातें बीतीं, सात दिन के जब पूरे होने लगे, और फिर एक बार सोमवार का दिन उगा । सवेरे ब्राह्मण-पुत्र खेतों से दाना बीन लाया, और लाकर मां को दिया कि वह रांधे ।

"आज तो तेरे पिता जल्दी फुरसत पा जायें, तो अच्छा हो । देह उनकी कुम्हलाने लगी होगी ।" कहते-कहते मां की आंखें सजल हो आईं ।

"मां, मुझसे तो कुछ कहा नहीं जायेगा । तुम कहना चाहो, कहो ।"

ठीक दोपहरी हुई, सूरज सिर पर तपने लगा । पेड़ों की परछाईं सिमट गई, और समूचा नैमिषारण्य एक क्षण के लिए थम-सा गया । ठीक इसी समय ब्राह्मण अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर भोजन करने के लिए बैठा । ब्राह्मण का हाथ दोने से उठ कर मुंह की ओर जा ही रहा था कि फिर—"भवति, भिक्षा देहि !" की आवाज आई ।

हाथ का कौर फिर दोने में रह गया । और "पधारो पधारो, महाराज !" कहता हुआ ब्राह्मण द्वार की ओर चला । द्वार के बाहर झांककर देखा, तो वही बूढ़ा, वही [illegible] वही [illegible] और वही पीठ से चिपका पेट !

"पधारो, पधारो, महाराज !"

"भाई ! मुझसे दहलीज चढ़ी नहीं जाती, तुम मुझे उठा कर अन्दर ले चलो, तो चल पाऊं।"

ब्राह्मण के दुर्बल हाथ फैल गए। उसने बूढ़े को संभालकर उठाया और यों अतिथि घर में आया।

"महाराज ! क्या आज्ञा है ?"

"दोपहर का समय है। मैं भूखा तो हूं, किन्तु तुम्हारे यहां क्या प्रबन्ध है सो तुम जानो।"

"महाराज ! भोजन तैयार है; स्वीकार कीजिये।"

"किन्तु अभी तो मेरा स्नान भी बाकी है। बुढ़ापा आ गया, और करने-धरनेवाला कोई नहीं।"

"तो आप नदी में स्नान करके आइये।"

"मैं नदी पर कैसे जाऊं, भाई ! मुझसे चला नहीं जाता। मैं तो इसी शिला पर बैठ कर नहा लूंगा। मुझे पानी दो।"

तुरन्त ही पुत्र-वधू मटके लेकर नदी पर गई, और वहां से पानी लाकर बूढ़े को यथेच्छ नहलाया। नहा-धोकर बूढ़े अतिथि भोजन को बैठे।

एक दोना आया और चट !

दूसरा दोना आया और चट !

तीसरा दोना आया और चट !

"अभी भूख तो शेष है, किन्तु सगर्भा स्त्री के हिस्से का अन्न मुझे हजम नहीं होगा।" कहते हुए वृद्ध अतिथि ने हाथ धोये, मुंह साफ किया और लाठी लेकर वह अपनी राह चल दिये।

दूसरे सोमवार का मध्यान्ह समाप्त हुआ। सूर्यनारायण पश्चिम

के पवित्र बनें, और यह ब्राह्मण कुटुम्ब फिर अपनी देह को भूल कर महेश्वर की सेवा में लीन हो गया ।

सात प्रहर मध्याह्न बीते; लम्बी-लम्बी सात रातें बीतीं, लम्बे-लम्बे सात दिनों की उपासनायें समाप्त होने आईं । और फिर वही सोमवार का सूर्य पूर्वाकाश में प्रकाशित हो उठा ।

आज तो ब्राह्मण कुटुम्ब की क्षीण देहों में नई चेतना उमड़ रही थी । सुबह-सुबह पुत्र खेतों में पहुंचा और दाना बीन लाया, ब्राह्मणी ने भोजन की तैयारी की । ब्राह्मण तो आज अपने आपमें इतना आनन्दमग्न था, मानो अन्तरतर में इष्टदेव का साक्षात्कार कर रहा हो !

दोपहर के बारह बजे; सूर्यनारायण का रथ आकाश में ठहर गया, समस्त सृष्टि एक क्षण के लिए शान्ति में निमग्न हो गई, और इधर ब्राह्मणी पति की राह देखती बैठी ।

किन्तु ब्राह्मण उठे तब न ? आज बाईस-बाईस दिन के उपवास हो चुके हैं, फिर भी वे उठ क्यों नहीं रहे ? ब्राह्मण तो उपासना में लीन था, ध्यान-ही-ध्यान में आज वह अपने इष्टदेव का सामीप्य अनुभव कर रहा था, उसकी देह, उसकी इन्द्रियां, मन आदि सभी आज एक ध्यान-दर्शन में रम गये थे, और ऐसी कोई वस्तु प्राप्त कर रहे थे, जो दुनिया के सारे भौतिक भक्ष्यों से व उत्तम-से-उत्तम विलास-सामग्री से भी मिल नहीं सकती थी । ब्राह्मण बहुत देर बाद अपनी इस दशा से जागृत हुआ. उसे याद पड़ा कि आज सोमवार है, यह सोचकर वह सहज ही दुःखी हुआ कि इतने समय उसकी राह देखते बैठे हैं । वह तुरन्त ही भोजन करने आया । किन्तु उसका मन तो अभी भी अपने अन्तर की गहराई में महेश्वर के ही ध्यान में लीन था ।

ब्राह्मण ने दोने में हाथ डाला और बाहर से फिर वही आवाज सुनाई पड़ी—"भवति, भिक्षां देहि !"

ब्राह्मण तत्काल उठ खड़ा हुआ। बूढ़े अतिथि को अन्दर लाया और भोजन के लिये बैठाया।

पहला दोना साफ, दूसरा दोना साफ, तीसरा दोना भी साफ।

"महाराज ! कुछ और लेंगे ?"

"हां।"

सगर्भा वधू का चौथा दोना भी साफ !

बूढ़े अतिथि वैसे रोज भोजन के बाद धीमे-धीमे हाथ-मुंह धोते, लाठी संभालते, और फिर धीरे-धीरे चलने लगते। पर आज तो झटपट खाकर हाथ धोने को दौड़े और हाथ धोये-न-धोये कि इतने में अदृश्य हो गये। ब्राह्मण ने बाहर आकर तलाशा, देखा, किन्तु वृद्ध कहीं दिखाई न पड़े ! घर के सभी उन्हें खोजने लगे। इसी समय देव-मन्दिर से अशरीरिणी वाणी सुनाई पड़ी—"ब्राह्मण ! जिस देव को तू ढूंढ़ रहा है, वह मैं स्वयं तुझपर प्रसन्न हुआ हूं। मांग, मांग ! मैं तेरी निष्ठा पर बलि-बलि जाता हूं।"

ब्राह्मण मन्दिर की ओर दौड़ा। जिस प्रभु के दर्शनों के लिए जीवन-भर कठोर तपस्या की, वही आज हृदय में प्रत्यक्ष हो उठा, यह देख ब्राह्मण की आंखों से हर्ष के आंसू बह चले और वह बोला—"हे प्रभो ! मैं क्या मांगूं ? आप तो समूचे विश्व का साम्राज्य देने की शक्ति रखते हैं; किन्तु मैं उसे क्या करूं ? मैं तो एक ही वस्तु मांगता हूं; आप मेरे हृदय से कभी न हटें। किसी भी दशा में मैं आपको न भूलूं। प्रभो ! मुझ पर बड़ी दया की !"

नेवले ने ब्राह्मण की कथा आगे सुनाते हुए कहा—"उसी समय मैं

नैमिषारण्य में घूमता-भटकता उस पर्णकुटी के पास जा पहुंचा और बूढ़े के हाथ की जूठन जिस जगह पड़ी थी, उधर से निकला तो वह जूठन मेरे शरीर में लग गई। जहां-जहां वह लगी, मेरा उतना शरीर सोने का हो गया। यह देख मैं उस जूठन में लोटने लगा। लेकिन जूठन तो थोड़ी ही थी, इसलिए मेरा आधा शरीर ही सुनहला हो पाया।

"मैं घबराया। अपने शेष शरीर को सुनहला बनाने के लिए मैंने अनेक ऋषियों की सलाह ली है, और जहां-जहां यज्ञ होता है, वहां-वहां हाथ धोने से इकट्ठी हुई जूठन में लोटता हूं, लेकिन आज तक मेरा एक भी रोआं सुनहला नहीं बना।

"मुझे मालूम हुआ कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़ा यज्ञ कर रहे हैं, और भगवान् वेदव्यास जैसे आचार्य तथा भगवान् श्रीकृष्ण जैसे सम्बन्धी यहां उपस्थित हैं; इसलिए मैंने सोचा कि अपने बाकी के आधे अंग को सुनहला बनाना हो, तो मुझे यह अवसर चूकना न चाहिए। इसी हेतु मैं नैमिषारण्य से चल कर यहां आया हूं, और आप देख रहे हैं कि बड़ी देर से आपके सामने देव पुरुषों के हाथ की जूठन का जो ढेर यहां पड़ा है, उसमें लोट रहा हूं। मैं अपने शरीर को सुनहला बनाना चाहता हूं, इसलिए मैं लोट तो रहा हूं, पर आप देखते हैं कि अभी तक मेरा एक भी रोम सुनहला नहीं हुआ, महाराज!

"इसीलिए मैं कहता हूं कि महाराज युधिष्ठिर का यह यज्ञ खोटा है, झूठा है! सच्चा यज्ञ तो नैमिषारण्य के उस ब्राह्मण का है।

"यह है मेरी कथा। अब धनुर्धारी अर्जुन और गदाधारी भीम मेरे साथ जैसा सलूक करना चाहें, करें।"

भीम ने अर्जुन की ओर देखा। युधिष्ठिर सिर नीचा किये जमीन कुरेदने लगे। भगवान् वेदव्यास ने नेवले से जाने को कहा और श्रीकृष्ण बोले—

"महाराज युधिष्ठिर ! समय बहुत हो चुका है। चलिये, अब हम दुपहर के अपने काम में लगें। ऋत्विज सब बैठे हमारी राह देखते होंगे।"

मण्डली सब उठी और यथास्थान गई।

फिर भी हवा में तो वही ध्वनि उठ रही थी—"सच्चा यज्ञ तो नैमियारण्य के ब्राह्मण का ही था!"

कुरुक्षेत्र के मैदान की दोनों छावनियों के बीच एक छोटी-सी टेकरी थी। टेकरी की एक खोह में एक टिटहरी ने अपना घोंसला बनाया था, और बच्चों के साथ वह उसमें रहती थी।

युद्ध की तैयारियां देख कर टिटहरी बहुत ही घबरा गई—"ऐसे महाभारत युद्ध में जो सनसनाते हुए तीर छूटेंगे, उनसे बिंधकर मैं मर भी जाऊं तो मुझे दुःख न होगा; किन्तु मेरे इन बच्चों का क्या हो?" बच्चों की सार-संभाल के विचार से टिटहरी का मातृ-हृदय विकल हो उठा—"किन्तु, मैं क्या करूं? इतने सारे छोटे-छोटे बच्चों को कहीं ले भी तो नहीं जा सकती। हे भगवन्, ये सांड यहां लड़ेंगे और इनसे हमें कौन बचायेगा? हम कैसे बचेंगे? इन अनगिनत हाथियों और घोड़ों का खून जहां बहेगा, वहां मेरे इन बच्चों की चिन्ता करनेवाला भला कौन हो सकता है?"

पर टिटहरी तो बच्चों की मां ठहरी! चाहे आशा छोड़ दे; किन्तु क्रन्दन कैसे छोड़े? टिटहरी बराबर रोती और बिलखती रही।

क्या टिटहरी के इस विलाप को सुननेवाले कोई कान वहां नहीं थे? मारो-काटो के उस वातावरण में इस छोटे-से प्राणी के क्रन्दन के लिए कोई अवकाश न था?

टिटहरी का वह क्रन्दन, उसका वह विलाप, श्रीकृष्ण के कानों तक पहुंचा। समूचा ब्रह्मांड भी इस धर्म-युद्ध में नष्ट हो जाय, तो जिसका रोआं न फड़के, जिसे रंच-मात्र विषाद न हो, उन्हीं श्रीकृष्ण का हृदय इस टिटहरी के आर्तनाद से द्रवित हो उठा। माता के अन्तस्तल की गहरी चीत्कार ने उनको कंपा दिया।

श्रीकृष्ण टिटहरी के घोंसले के पास गये और टिटहरी पर व उसके बच्चों पर एक बहुत बड़ा-सा टोकना ढांक आये।

अठारह दिन तक महाभारत की लड़ाई चलती रही। भारतवर्ष के

असंख्य योद्धा उस युद्ध में स्वर्ग सिधारे। हाथियों और घोड़ों की तो गिनती ही क्या थी? सारे कौरव रणशय्या पर सोये थे, भीष्म और द्रोण-जैसे भी काल के मुंह में समा गये थे। किन्तु टिटहरी का और उसके बच्चों का तो बाल भी बांका न हुआ था।

ऐसे-ऐसे महाभारत युद्धों की रचना करनेवाले श्रीकृष्ण के हृदय में टिटहरी-जैसों के लिए स्थान था, इसीमें उनकी प्रभुता है।

: ९ :

गृहस्थाश्रम बड़ा या संन्यासाश्रम

एक था राजा ।

राजा के नगर में बहुतेरी धर्मशालायें थीं, बहुतेरे अन्न क्षेत्र, और बहुतेरे साधुओं के अखाड़े। देश-परदेश के साधु, संत, दण्डी, परमहंस, संन्यासी सभी नगर में आते और जाते; कोई रात बसेरा लेकर चला जाता, तो कोई चातुर्मास वहीं बिताता, कोई वेदान्त की कथा करता, तो कोई सारा दिन यहां-वहां भटककर ही बिता डालता ।

एक बार राजा के मन में विचार आया—"यह गृहस्थाश्रम ज्यादा अच्छा या संन्यास ज्यादा अच्छा? शास्त्र में तो गृहस्थाश्रम को समचे जीवन की नींव माना है। गृहस्थ के धर्मों का पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान है। फिर भी लोग मान-सम्मान तो संन्यासियों का ही करते हैं। बेचारा वह ब्राह्मण सारा दिन गांव के लड़कों को पढ़ाता है और गांव में आटा मांगता है; तीन बच्चे हैं, और दो जने खुद हैं। पांच प्राणियों को पेट भर रोटी भी हिस्से नहीं आती। लेकिन दरवाजे में किसी गेरुए वस्त्रधारी ने पैर रखा कि लोग दौड़े ही समझिये—'हे महाराज! मेरे घर भिक्षा पाने की कृपा कीजियेगा।' अगर संन्यास ही अधिक अच्छा हो तो फिर राज-पाट छोड़कर मैं संन्यास ही क्यों न ले लूं? संन्यास से ही मोक्ष मिलता हो, तो मुझे भी यह सब छोड़कर चल पड़ना चाहिए।"

राजा तो गहरे सोच में पड़ गया और सोच ही सोच में उसने आज्ञा दे डाली—"आज से हमारे नगर में जो कोई साधु-संन्यासी आवे, वह सीधा मेरे पास लाया जाय। मैं उसके साथ इस प्रश्न पर चर्चा करूंगा कि गृहस्थाश्रम बड़ा है या सन्यासाश्रम? अगर कोई संन्यासी सिद्ध कर देगा कि संन्यासाश्रम बड़ा है, तो मैं राजपाट छोड़कर संन्यासी बन जाऊंगा; किन्तु यदि यह निश्चय हुआ कि गृहस्थाश्रम बड़ा है, तो उस संन्यासी के गेरुए वस्त्र उतरवा कर उसे घर-गृहस्थी वाला बना दूंगा।"

राजाज्ञा के छूटने ही की देर थी। नगर के द्वार पर पहरा देनेवाले सिपाही एक-के-बाद-एक साधु-संन्यासियों को हाजिर करने लगे। राजा की राजसभा—उसका दरबार—गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम की चर्चा का स्थान बन गई। राजा ने अपने शास्त्रज्ञान से अच्छे-अच्छे संन्यासियों को मात कर दिया; बहुतेरे ढोंगी सन्यासियों का संन्यास छुड़ाकर उन्हें गृहस्थ बना दिया, कुछ निर्मल संन्यासी शास्त्र की इस उधेड़बुन में न पड़ने के विचार से राजा के नगर को छोड़ कर ही जाने लगे। परिणाम यह हुआ कि १०-१२ महीनों के अन्दर ही नगर में संन्यासी नाम के प्राणी का आना ही बन्द हो गया, अन्न-क्षेत्र और धर्मशालायें उजाड़ हो गईं, और लोकहृदय मानो एक तरह की न्यूनता अनुभव करने लगा।

राजा के ये समाचार देश-परदेश में चारों तरफ फैल गये। किसी ने कहा—"राजा सन्यासियों को सता कर पाप की गठरी बांध रहा है।" दूसरे किसी ने कहा—"अच्छा ही हुआ, जो इन लंगोटीवालों को राजा ने पकड़ा!" एक तीसरी आवाज उठी—"अजी राजा क्यों शास्त्र की इस माथापच्ची में पड़ा है?" चौथी आवाज आई—"राजा को ढोंगियों [illegible] है, और वह हाथ धोकर इनके पीछे पड़ गया है।" राजा के नगर में संन्यासियों का आना-जाना प्राय: बन्द हो गया; किन्तु राजा के मन का समाधान तो हुआ ही नहीं।

इसी बीच एक बार विशुद्धानन्द नामका एक संन्यासी नगर में आ पहुंचा। कोई चौबीस वर्ष की उम्र, गोरा रंग, सुन्दर मुखमुद्रा, आंख में और सारे शरीर में शुद्ध ब्रह्मचर्य का ओजस्, हाथ में दण्ड-कमण्डल और शरीर पर गेरुआ वस्त्र !

ज्योंही विशुद्धानन्द ने नगर के प्रवेश-द्वार में पैर रक्खा, त्योंही सिपाही ने राजा की आज्ञा सुनाई और उन्हें राजा के पास ले गया। विशुद्धानन्द को इस सबकी कल्पना तो थी ही !

राजा दरबार में बैठा था, तभी विशुद्धानन्द को लेकर सिपाही वहां पहुंचा। संन्यासी को आता देखकर राजा खड़ा हो गया और उन्हें आदर-पूर्वक आसन पर बैठाया।

"राजन् ! मुझे यहां क्यों बुलाया है ?" विशुद्धानन्द ने चर्चा छेड़ी।

"महाराज ! मेरे सिपाही ने आपसे सारी बात कही ही होगी। मेरे मन में इस बात को लेकर संशय उत्पन्न हो गया है कि गृहस्थाश्रम बड़ा या संन्यासाश्रम बड़ा ? इस संशय के मारे मैंने बहुतेरी शास्त्रीय चर्चायें करके देखीं, इस संशय के वश होकर मैंने अनेक त्यागियों को रागी बना दिया, इस संशय के कारण ही आज संन्यासियों ने मेरे द्वार पर आना छोड़ दिया है ! मुझे तय करना है कि गृहस्थाश्रम बड़ा है या संन्यासाश्रम; किन्तु यह निरे वाणि-विनोद के रूप में नहीं। यदि यह सिद्ध हो जाय कि संन्यास बड़ा है, तो राजपाट छोड़कर मुझे संन्यास लेना है, और अगर यह सिद्ध हो कि गृहस्थाश्रम बड़ा है, तो आपको इन गेरुए वस्त्रों का त्याग करके गृही बनना है—घर बसाना है। इसीलिए आपको यहां हाजिर किया गया है।"

"राजन् ! तुम्हारा प्रश्न बहुत गम्भीर है।" विशुद्धानन्द ने गम्भीर स्वर में कहा। "इस प्रश्न का उत्तर मैं तुम्हें छः महीने में दूंगा। किन्तु उससे पहले

तुम्हें मेरा उत्तर समझने का अधिकार प्राप्त करना होगा। उसके बिना मैं तुम्हें जवाब न दे सकूंगा।"

विशुद्धानन्द के ये शब्द, उनकी गम्भीर मुखमुद्रा, उनके शब्दों का सामर्थ्य, उनके बोलने का ढंग, और इन सबसे बढ़कर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव राजा को अभिभूत करने के लिए पर्याप्त थे। राजा सहम गया, दब गया और बोला—"महाराज! मुझे अधिकार किस तरह प्राप्त करना होगा?"

"हां, सो मैं कहता हूं। इन छः महीनों के अन्दर मैं जो कुछ करूं, उसके बारे में तुम मुझसे कुछ पूछना मत, और जो कुछ तुमसे करने को कहूं, उसके लिए तुम फौरन ही तैयार हो जाना। जिस दिन तुम इन दो में से एक भी शर्त को तोड़ोगे, उस दिन मैं यहां से चला जाऊंगा।"

सन्यासी ने जताया।

राजाने रुकते-रुकते जवाब दिया—"छः महीनों तक मैं इन सब नियमों का पालन करूं, और फिर . . भी . . .आप . . ."

विशुद्धानन्द ताड़ गये, बोले—"हां, तुम सब कुछ करो और फिर भी मैं तुम्हारा समाधान न करूंगा तो क्या हो, यही न? तो तुम मुझे कोल्हू में पेर कर मेरा तेल निकालना!"

राजा ने विशुद्धानन्द की बात मान ली, उनके रहने-खाने का प्रबन्ध किया, और छः महीने पूरे होने की बाट जोहने लगा।

राजा प्रतिदिन सन्यासी के दर्शन करने जाता, और जाने-अनजाने यह यत्न भी कर लेता कि स्वामी किसी तरह उसके प्रश्न की चर्चा करें। किन्तु स्वामी उस बात को क्यों याद करने लगे? वह तो ऐसा बरताव करते, मानो असल बात भूल ही गए हों। राजा आता। वह राजा से देश-परदेश की टेढ़ी-सीधी बातें करते और राजा चला जाता। इस तरह आखिर पांच

महीने बीत गये। राजा की अधीरता बढ़ने लगी—"कहीं ऐसा न हो कि यह लफंगानन्द छः महीने तक मौज उड़ा कर रातोंरात भाग जाय और मैं बेवकूफ बनूं! लेकिन कहूं कैसे?"

इसी बीच एक बार राजा सांझ को स्वामी के दर्शनों के लिए आया, और स्वामी ने कहा—"राजन्! कल सुबह हमें यात्रा के लिए जाना है, इसलिए तुम बड़े सवेरे तैयार होकर आ जाना, और अपना वेश इस तरह बदल लेना कि रास्ते में कोई तुम्हें पहचान न सके। यात्रा में पन्द्रह-बीस दिन लगेंगे। इतने समय के लिए जो प्रबन्ध करना हो, सो कर लेना।"

राजा ने रात में दीवान, कारबारी वगैरा सबको बुलाकर राज्य का प्रबन्ध कर लिया, और सवेरे एक साधारण आदमी के-जैसे कपड़े पहन कर संन्यासी के स्थान पर हाजिर हो गया। संन्यासी और राजा दोनों यात्रा के लिए चल पड़े।

चलते-चलते मार्ग में एक शहर मिला। उस दिन शहर में राजा की राजकुमारी का स्वयंवर था; इसलिए राजमार्ग पर लोगों की भीड़ बेहद बढ़ गई थी, छाती से छाती पिसती थी! देश-विदेश के राजकुमार न्योता पाकर आये थे; उनके डेरे-तम्बू गढ़ के बाहर तने थे। सारा नगर ध्वजा-पताकाओं और तोरणों से सजाया गया था। द्वार-द्वार पर नौबतें गड़गड़ाती और शहनाइयां बजती थीं। राजमहल की शोभा का पार न था।

संन्यासी ने कहा—"राजन्! चलो, हम भी स्वयंवर देखने चलें।"

"जैसी आपकी इच्छा।"

दोनों स्वयंवर के मण्डप की ओर चले। नगर के बाहर एक बड़े मैदान में मण्डप रचा गया था। मण्डप में देश-विदेश के राजकुमारों के लिए कतारबन्द सिंहासन सजा दिये गये थे और कुछ राजकुमार तो आ भी पहुंचे

थे। मण्डप का ठाट-बाट, उसके रत्नों से जड़े खम्भे, रंग-बिरंगी छतें, चांदनियां, उसके सुनहले तोरण, उसके फूल-पत्तों की शोभा, खूबसूरत दीखने की राजाओं की चेष्टायें, उनकी गम्भीरता, उनके हास्य, उनकी मूर्खता, इन सबसे सारा मण्डप दीप्त हो रहा था।

संन्यासी और राजा दोनों ने मण्डप में प्रवेश किया और द्वार के पास जहां गरीब-गुरबे देखने के लिए खड़े थे, वहीं चुपचाप बैठ गये।

ठीक समय पर राजकुमारी एक पालकी में चढ़कर आई और ऊंची रंगभूमि पर उपस्थित हुई। राजकुमार ने सारे मण्डप को सुनाते हुए बुलन्द आवाज से राजकुमारी के स्वयंवर-स्वरूप की घोषणा की और तुरन्त ही सुवर्ण की वरमाला लेकर राजकुमारी मण्डप के बीच चल पड़ी।

राजकुमारी एक-के-बाद एक राजकुमारों को निरखती जाती थी। सारे मण्डप में बैठे हुए किसी भी राजकुमार पर उसका मन मुग्ध नहीं हुआ। अनेक राजकुमारों को पीछे छोड़ती जब राजकुमारी ठेठ मण्डप के दूसरे सिरे के पास जा पहुंची, तो सब की चिंता का पार न रहा।

इसी बीच सब राजकुमारों को निरखने और पीछे छोड़ने के बाद राजकुमारी ने दरवाजे के पास ज्यों त्यों खड़ी-बैठी भीड़ की ओर एक दीन दृष्टि से देखा; बिजली की-सी चपलता से उसकी आंखों ने वहां बैठे संन्यासी को पकड़ लिया, और दूसरे ही क्षण वरमाला संन्यासी के गले में जा पड़ी!

सभा सारी दिङ्-मूढ़ बन गई! राजकुमार यह जानने के लिए आतुर हो उठे कि वरमाला किसको पहनाई गई है। लोगों की भीड़ इस फकीर को देखने के लिए आगे बढ़ी। राजकुमारी के माता-पिता द्वार की ओर चल पड़े।

लेकिन यह सब हुआ, उससे पहले तो मानो कई युग बीत गये; औ
संन्यासी के गले में वरमाला पड़ी-न पड़ी, तहाँ तो गले में पड़े सांप को अ
जिस तरह फेंक दे, उस तरह संन्यासी ने वरमाला को उतार फेंका औ
वेग से दरवाजे के बाहर निकल कर वह बेतहाशा भागा। आगे संन्यास
पीछे राजा और उसके भी पीछे राजकुमारी। संन्यासी तो जंगल के हरि
की-सी चपलता से भागा; राजा बड़ी मुश्किल से संन्यासी को ध्यान में रख
हुआ उसके पीछे दौड़ने लगा; किन्तु राजकुमारी तो थोड़ा दौड़ने के बा
हांफती-हांफती जो बैठ गई, सो फिर उठती ही क्योंकर?

शाम पड़ी। एक घनघोर जंगल आ पहुंचा। संन्यासी और राजा दो
थककर लस्त-पस्त हो चुके थे। देखते-देखते अन्धेरा बढ़ गया और जंगल
पशुओं की गर्जनायें सुनाई पड़ने लगीं। जाड़ों की ठिठुराने वाली हवा ती
की तरह सनसनाने लगी।

संन्यासी और राजा एक बड़ के सहारे बैठे। राजा का पेट पीठसे चिप
चुका था और शरीर सारा मारे ठंड के कांप रहा था। लेकिन कहे कैसे
दांत कटकटाने लगे, और राजा घुटनों को छाती सें लगा, सिकुड़-मुकु
बैठ रहा।

"महाराज! ठण्ड तो लगती होगी, किन्तु इस जंगल में कोई उपा
नहीं," संन्यासी ने कहा।

"सो कोई बात नहीं। आखिर यहां आग आये कहां से?"

बड़ के पेड़ पर एक गिद्ध का घोंसला था। उसमें गिद्ध-गिद्धिन औ
उनके दो बच्चे रहते थे। गिद्धिन घोंसले में बच्चों को लेकर सोई हुई थी
उसने आवाज सुनी, वह चौंकी, जागी और बोली—"जागते हो?"

"हां, क्या कहती हो?"

"मालूम होता है नीचे कोई बहेलिया आया है।"

"इस समय बहेलिया कैसा ?"

"देखो, जरा, सुनो तो सही।"

गिद्ध और गिद्धिन दोनों कान लगाकर सुनने लगे। और जब सुना, तो मालूम पड़ा कि बड़ के नीचे कोई बहेलिया तो है नहीं, किन्तु जाड़े के मारे कोई दो आदमी आ पहुंचे हैं।

"तो अपने इन मेहमानों के लिए कहीं से आग ला दो न ?" गिद्धिन ने कहा।

"मैं भी यही सोच रहा हूं। किन्तु आजकल ठण्ड के दिन हैं, इसलिए दावानल भी कहां लगता है ?"

"तुम बड़ की कलगी पर चढ़कर जरा देखो तो !"

गिद्ध बड़ के शिखर पर पहुंचा। देखा, तो बहुत दूर पर दावानल सुलगता दिखा।

"वहां दूरी पर दावानल दिखाई पड़ता है, मैं वहीं जाता हूं, तुम बच्चों को सम्भालना।"

गिद्ध उड़ा, सुलगते दावानल में से एक जलती लकड़ी चोंच में दबाकर वापस आया और उसे बड़ के तने के पास गिरा दिया।

संन्यासी पक्षी की भाषा जानता था; इसलिए सब बातें उसकी समझ में आ गई थीं। फिर भी उसने कहा—"ओहोहो, महाराज! बड़े लोगों के भाग्य भी बड़े होते हैं! लीजिए, यह आग आ पहुंची! अब मैं आस-पास से थोड़ी लकड़ी और घास-पात चुन लाता हूं, और फिर आप तापिये।'

राजा कांपता-थरथराता उस जलती लकड़ी के पास पहुंचा और उसे फूंकने लगा। उधर संन्यासी ने सूखे पत्ते और टहनियां आदि इकट्ठी कीं।

थोड़ी देर में वहां एक छोटा-सा अलाव जलने लग गया। अब राजा को कुछ होश आया, उसका शरीर गरमाने लगा, संन्यासी पर आने-वाला गुस्सा भी कुछ कम हुआ और दोनों पहले से ज्यादा खुलकर बातें करने लगे।

"राजन् ! भूख तो लगी ही होगी ?"

"अब तक तो जाड़े के कारण भूख दबी पड़ी थी, लेकिन अब तो पेट में कुछ-का-कुछ होने लगा है।"

"राजन् ! दिन होता तो कहीं से भी कुछ-न-कुछ तोड़ गिरा लाते; किन्तु इस रात में तो कोई उपाय नहीं सूझता।"

"क्या इस बड़ के पत्ते नहीं खाये जा सकते ?"

"खाने को तो खा सकते हैं; किन्तु आपने कभी खाये नहीं हैं, इसलिए कहीं 'इदं तृतीयं' न हो जाय !"

"कुछ भी हो, पेट में आग जल रही है, किसी तरह वह ठण्डी तो हो"

गिद्धिन ने यह बात-चीत सुनी।

"फिर सो गये क्या ?"

"नहीं, नहीं; क्यों क्या बात है ?"

"तुमने आग तो लाकर दी, किन्तु ये लोग तो भूखे मालूम होते हैं। तिस पर इनमें एक तो राजा है, जिसने कभी सरदी-गरमी और भूख-प्यास जानी न होगी ! हमारे आंगन में मेहमान भूखे नहीं रह सकते।"

"शाम को मांस का टुकड़ा बचा था न ?"

"नहीं, उसे तो हमारे बच्चे खेलते-झगड़ते खा गये। घोंसले में तो कुछ भी नहीं है।"

"तो अब मैं इस समय कहां से लाऊं।"

"लेकिन मेहमान को भूखा रखकर हम यहां इस गरमी में सोते रहें, तो हमारा गृहस्थाश्रम लजायेगा ।"

"तो मैं क्या करूं, तुम्हीं कहो ?"

"मुझे एक बात सूझती है । तुम इन दोनों बच्चों को संभालो, और मैं यहां से नीचे अलाव में गिरती हूं । मुझे यों अचानक गिरी देखकर राजा जग जायेगा । कदाचित् मुझपर दया करके वह मुझे बचाने की कोशिश करे; इसलिए मैं अधबीच में ही अपनी जीभ चोंच से कुचल लूंगी । फिर तो उसे खाना ही पड़ेगा ।"

चिड़िन के इस सुझाव का चिड़ा ने स्वागत किया और बोला—"अगर मरना ही है, तो फिर मैं ही मरूं । बच्चे छोटे हैं, मां की ममता न मिली, तो तड़पकर मर जायेंगे । इसलिए मुझे ही गिरने दो ।"

चिड़ा ने चिड़िन से विदा ली, अपने छोटे-छोटे बच्चों को चूमा-चाटा । चिड़िन ने कहा—"इन्हें संभालना भला !" और वह नीचे आ गिरा । उसने गिरते-गिरते ही अपनी जीभ काट ली थी; इसलिए अलाव में गिरते ही उसके प्राण निकल गये ।

पक्षी को अलाव में गिरता देख राजा चिल्लाया—"अरे-रे-रे ! बचाओ, बचाओ !" चिड़े के पर पकड़कर उसे बाहर निकाला, लेकिन इतने में तो वह मर चुका था । संन्यासी सब कुछ जानता था । उसने कहा—"राजन् ! यह तो मरनेवाला था, सो मर गया । अब तुम इसे भूनकर खा जाओ, बड़ों के भाग भी बड़े होते हैं ।"

राजा ने चिड़े के पर वगैरा नोच डाले, उसके मांस को अलाव पर सेका और गटक गया ।

"कहिये, अब ज्वाला कुछ शान्त हुई !"

"यह तो उलटी बढ़ गई, स्वामिन् ! इतना खाने से भूख और भड़क उठी है ।"

गिद्धिन घोंसले में बैठी यह सब सुन रही थी । उसका जी उसके बस में न रहा—"मेरे आंगन में मेहमान भूखा रहे ? जिस रास्ते मेरा गिद्ध गया, उसी रास्ते मैं भी जाऊंगी । प्रभो ! ये बच्चे तुम्हारे हैं । तुम्हीं इन्हें संभालना । आखिर मैं कब तक इनकी रखवाली करती ।"

गिद्धिन ने बच्चों को भलीभांति सुलाया । उनको चूमा ? अपने कुछ आंसुओं से उनका मुंह धोया-भिगोया, और घोंसले का द्वार बन्द करके नीचे गिरी और गिरते ही मर गई । राजा ने गिद्धिन का मांस भी खाया और रात ज्यों-त्यों बिताई ।

सबेरा होते ही संन्यासी ने कहा—"राजन् ! आज हम वापस घर चलेंगे ।"

राजा के विस्मय का पार न रहा । वह मन-ही-मन गुनगुनाया—"यात्रा को जाना था, सो क्या हुआ ? अभी तो एक भी तीर्थ नहीं किया, और कहते हैं, घर लौटो ? अभी तो सब दिन परेशानी ही में बीते । एक स्वयंवर देखा, तो वहां भी मनहूस सूरत बना कर बैठे; और वहां से चोर की तरह भागे, सो यहां इस जंगल में सारी रात जाड़े से ठिठुरते, भूखे-प्यासे पड़े रहे । यह यात्रा कही जाती हो, तो बात अलग है ! छः महीने पूरे हो रहे हैं, मगर हजरत मेरे प्रश्न का नाम नहीं लेते । मुझे हैरान कर रहे हैं । किन्तु एक बार छः महीने पूरे होने दूं, फिर देख लूंगा । आज कुछ कहना ठीक नहीं ।"

संन्यासी और राजा दोनों घर लौटे । राजा आखिरी महीने के आखिरी दिन गिनने में लगा है । इतने में एक दिन शाम को विशुद्धानन्द ने कहा—"राजन् ! अब मैं यहां से जाना चाहता हूं । तुम मुझे विदा दो ।"

"महाराज ! मेरा प्रश्न तो अभी वैसा ही खड़ा है। आपने मुझे उसका उत्तर समझाने का वचन दिया है न ?" राजा ने अधीर होकर पूछा।

"उत्तर तो तुम्हें मिल चुका है।"

"कब ? आपने मुझे उत्तर कब दिया ? मेरा समाधान कब किया ?"

"तभी जब यात्रा को गये थे।"

"मुझे याद नहीं पड़ता। अगर जवाब मिला होता तो मैं पूछता क्यों ?"

"राजन् देखिये, आपका सवाल यही है न कि संन्यासी बड़ा या गृहस्थ बड़ा ?"

"जी हां।"

"मैं संन्यासी हूं। स्वयंवर में, समूची पृथ्वी पर रथ दौड़ा सकने की क्षमता रखने वाले राजाओं को छोड़कर, राजकुमारी ने मेरे गले में वरमाला डाली थी, सो तुमने स्वयं देखा है। मैं ब्याह करना चाहता, तो राजकुमारी से ब्याह कर सकता था, मुझे आधा राज्य मिलता, सिंहासन के सुख लूटने को मिलते, और आपकी तरह मैं भी ऐश्वर्यवान् गिना जाता। किन्तु मैं संन्यासी था, मैं संसार के विषयों को धोकर पी चुका था, इसलिए मेरे मन में कोई वासना न रह गई थी। यही कारण था कि मैं उस वरमाला को फेंक कर भाग खड़ा हुआ। यह है, सन्यास। संसार के सुख अपने आप गोद में आ कर पड़ें, तो भी उन्हें अलग हटा कर अपने ही मार्ग पर दृढ़ रहने में सच्चा संन्यास है। दो पैसों के गेरु से कोई संन्यासी बन पाता, तब तो दुनिया समूची तर गई होती।

"राजन् ! जिस तरह तुमने मेरा संन्यास देखा है, उसी तरह उन पक्षियों के गृहस्थाश्रम का भी तुमने अनुभव किया है। तुम तो नहीं जानते, किन्तु मैं पक्षियों की भाषा जानता हूं। इसलिए सच्ची बात मुझसे सुनना है। कि

गिद्ध-गिद्धिन को तुमने भूनकर खाया था, उन्होंने गृहस्थाश्रम के धर्म का पालन करते हुए तुम्हारे लिए अग्नि सुलभ कर दी और तुम्हें भूखा जान कर दोनों ने स्वयं मर कर अपना मांस तुम्हें दिया।"

राजा स्तब्ध रह गया —"एँ! यह आप क्या कहते हैं ?"

"मैं सच ही कहता हूं। गृहस्थाश्रम रचने के बाद जब उसके धर्मों का पालन करने की घड़ी आये, तब शरीर या मन को चुराना या छिपाना उचित नहीं होता। अगर गिद्ध-गिद्धिन चाहते, तो आराम से अपने घोंसले में सोये रहते और सवेरा होने पर अपने काम में लगते, हम भी एक रात मर न जाते। किन्तु कोई गृहस्थ या गृहिणी इस तरह सो कैसे सकती है। दूसरों के लिए मरना सीखने के वास्ते तो मनुष्य गृहस्थ बनता है, घर बसाता है। हर किसी स्त्री या पुरुष के एक साथ रह कर बच्चे पैदा करने-मात्र से गृहस्थाश्रम पूरा नहीं होता, गृहस्थाश्रम तो तभी शोभा पाता है, जब हम अपने शरीर और मन को दूसरों की सेवा में घुला दें, मिटा दें।

"राजन्! संन्यास देखना हो, तो यह संन्यास है, और गृहस्थाश्रम देखना हो, तो यह गृहस्थाश्रम है। ये दोनों समान हैं। सच्चे संन्यास और सच्चे गृहस्थाश्रम में कोई किसी से कम-ज्यादा नहीं। जिसका झुकाव संन्यास की ओर हो, वह गेरुए वस्त्र पहने, और जिसका झुकाव गृहस्थाश्रम की ओर हो, वह सफेद कपड़े पहने। दोनों अपने-अपने धर्म में जाग्रत रहें, तो दोनों ही बड़े हैं, और गाफिल रहें, तो कोई बड़ा नहीं। कहिए, आपको अपने प्रश्न का उत्तर मिला ?"

राजा तो स्तब्ध होकर बैठा था। वह मानो समाधि से जागा। उसने विशुद्धानन्द के चरणों में अपना माथा टिकाया और बोला—"महाराज! मेरे मन की भेद-बुद्धि को आज आपने दूर किया; मुझे शास्त्र का मर्म समझाया। मनुष्य जहां हो, वहीं रहकर अपने धर्म का आचरण करे और

दूसरे का धर्म अधिक मनोहर प्रतीत होने पर भी अपना स्थान छोड़कर उस ओर न दौड़े। इस चीज को आज मैं भली-भांति समझ गया हूं।"

संन्यासी ने दंड कमण्डल उठाया और चलने लगे।

"महाराज! आप अब यहीं निवास कीजिए और मुझे सदा के लिए अपने सत्संग का लाभ दीजिए।" राजा ने दीन भाव से विनय की।

"राजन्! तुम भूलते हो। हमारे साथ ऐसा आग्रह किया ही नहीं जा सकता। हम रमते राम बने रहें, इसीमें हमारा और संसार का कल्याण है। फिर कभी आपका हमारा कोई ऋणानुबन्ध हुआ, तो हम फिर एक जगह मिल लेंगे।"

छः महीने पहले जिस दरवाजे से प्रवेश करते समय संन्यासी को सिपाही ने पकड़ा था, उसी दरवाजे से राजा आज संन्यासी को विदा देने आया। दरवाजे से बाहर निकल कर संन्यासी अपनी राह चला गया और जबतक उसका कलेवर दीखना बन्द न हुआ, राजा उसे दरवाज़े की छत पर खड़ा देखता ही रहा, देखता ही किया!

: १० :

'नरो वा कुंजरो वा'

कुरुक्षेत्र के मैदान में महाभारत का श्रीगणेश हो रहा है। एक तरफ सात अक्षौहिणी सेना और दूसरी तरफ ग्यारह अक्षौहिणी सेना; एक तरफ पांच पांडव, और दूसरी तरफ सौ कौरव; एक तरफ हाथ में शस्त्र तक न उठाने की प्रतिज्ञा के साथ आये हुए श्रीकृष्ण और दूसरी तरफ उन्हीं की समूची सेना; एक ओर पुरुष की आकृतिमात्र-सा शिखंडी और दूसरी ओर सफेद दाढ़ीवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्म; एक ओर द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न और दूसरी ओर उसके पिता के शत्रु और धनुर्विद्या के आचार्य द्रोण।

युद्ध के दसवें दिन भीष्म शरशय्या पर सोये और सेनापति के नाते द्रोणाचार्य का अभिषेक हुआ। द्रोण जन्म से ब्राह्मण थे, धनुर्विद्या के बड़े समर्थ आचार्य थे, फिर भी उनके स्वभाव में हिंसा नहीं थी, हाड़ में खून न था। तिस पर अर्जुन के लिए उनकी प्रीति तो असाधारण थी। इस विचार से कि कोई अर्जुन से सवाया न बन जाये, वह भीलकुमार एकलव्य का अंगूठा उतरवा लाये थे! जब युद्ध शुरू हुआ, तो अर्जुन ने गुरु के चरणों में दो बाण चढ़ाये, और आचार्य ने अर्जुन के सिर पर दो बाण चला कर उसे आशीर्वाद दिया।

लेकिन वही द्रोण आज बदल गये थे। आज के द्रोण, द्रोण न रहे। आज के द्रोण अर्जुन के गुरु न रहे। आज के द्रोण तो पांडव सेना के

काल बन गये ! उनका ब्रह्मतेज, उनकी सफेद दाढ़ी, उनके लोहे-से कड़े हाथ, उनकी तीक्ष्ण विद्या और पांचालराज द्रुपद के प्रति उनका जुगों का पुराना वैर—इन सबने मिल कर आज पृथ्वी को निष्पांडवी करने का निश्चय कर लिया था। द्रोण का प्यारा अर्जुन उनके सामने आया और उन्हींके दिये रहस्य से उनके साथ लड़ने लगा। किन्तु स्वयं रहस्य के द्रष्टा के सामने रहस्य टिके कैसे ? अर्जुन को रथ में मूर्छा आ गई और श्रीकृष्ण ने रथ लौटा लिया। भीम आगे बढ़ा और उनके सामने आया। भीम का बल तो उन्मत्त बल ठहरा। उसने तो आचार्य के रथ को ही उठा-उठाकर पटकना और तोड़ना शुरू किया; किन्तु युद्ध-कला में प्रवीण आचार्य ने उसको हराया और खदेड़ दिया। धीर, गम्भीर, युधिष्ठिर महाराज सामने लड़ने आये, किन्तु तुरन्त ही लौट पड़े, और हक्के-बक्के-से होकर श्रीकृष्ण को ढूंढने लगे।

इधर द्रोणाचार्य ने तो कहर बरसाना शुरू कर दिया। भयानक का समय हुआ, योद्धा पटापट मरने लगे, हाथी घोड़े जमीन पर लोटने लगे, द्रोण के बाण शत्रुओं को छेदने लगे, धृष्टद्युम्न की सेना बड़े वेग के साथ क्षीण होने लगी, दुर्योधन का उन्माद विकराल रूप धारण करने लगा। श्रीकृष्ण सोच में पड़ गये, अर्जुन चिन्तित हो उठा, भीम कुछ-का-कुछ कर डालने को उतावला हो गया, युधिष्ठिर का मन अपनी विजय के विषय में शंका से भर गया।

श्रीकृष्ण ने कहा—"युधिष्ठिर ! मामला गम्भीर होता जा रहा है।"

"महाराज ! क्या कीजियेगा ?"

'आज का रंग कुछ और है। आज गुरुदेव द्रोण जिस तरह लड़ रहे हैं, उसी तरह शाम तक लड़ते रहे तो हमारी पांडवी सेना में एक आदमी भी जीता नहीं बच सकेगा" श्रीकृष्ण ने कहा।

"द्रोण के वाणों में इतना विष है, सो तो मैंने आज ही जाना। द्रोण ने यह विद्या तो मुझे भी नही सिखाई" अर्जुन ने बात पूरी की।

भीम ने कहा—"सो तो सब ठीक है। लेकिन अब यह बताओ, कि इन को खतम कैसे किया जाय ! वाण का विष तो देखा।"

"कहिये युधिष्ठिर ! आप कुछ कहते क्यों नहीं ?" श्रीकृष्ण ने पूछा।

"मुझे तो कुछ सूझता ही नहीं। पितामह के हटने पर मैं तो यही सोचने लगा था कि अब विजय हमारी ही है; फिर लड़ाई भले जितने दिन चलती हो, चला करे, लेकिन आज मैं देख रहा हूं कि लड़ाई आज ही शाम को पूरी हो जायगी, और............................" युधिष्ठिर आगे कुछ कह न सके।

"मुझे ऐसा प्रतीत होता है।"

भीम ने पूछा—"तो फिर इसमें से वचने का कोई रास्ता है ?"

"रास्ता सब बातों का होता है, इसका भी हो सकता है।"

"तो आप रास्ता सुझाइये न ! आज तक तो हम आपके दिखाये रास्ते पर ही चले हैं।" युधिष्ठिर ने कहा।

"रास्ता यह है कि कोई ऐसी युक्ति रची जाय, जिससे द्रोण स्वयं अपने शस्त्र छोड़ दें। जबतक इस ब्राह्मण के हाथ में शस्त्र है, तबतक आप को अपने जीने की और जीतने की आशा न रखनी चाहिए।" श्रीकृष्ण बोले।

भीम ने पूछा—"किन्तु वह शस्त्र छोड़ेंगे कैसे ?"

"अगर द्रोण सुन पाये कि उनका पुत्र अश्वत्यामा मारा गया है, तो वे तुरन्त ही अपने शस्त्रों का त्याग कर देंगे। द्रोण का समचा जीवन अश्वत्यामा पर टिका हुआ है। किसी भी तरह उनके कानों तक ये शब्द पहुंचने चाहिए, कि अश्वत्यामा मारा गया है।" श्रीकृष्ण ने जताया।

"किन्तु अश्वत्यामा के जीते जी उसके मारे जाने की खबर कैसे दी जाय ? यह अधर्म कैसे किया जाय ?" युधिष्ठिर चौंके।

श्रीकृष्ण ने कहा—"आप ठीक कहते हैं। धर्म तो वही है जो आप कह रहे हैं। किन्तु यहां तो विजय की बात है। यदि धर्म की अपेक्षा विजय प्रिय हो, तो इस तरह कीजिये। दूसरा कोई उपाय नहीं।"

"श्रीकृष्ण! आप जो चाहें, कहें, किन्तु यह उपाय हमारी वीरता को शोभा नहीं देता।" अर्जुन ने पीठ फेरी।

"अब आप सब अपने-अपने रास्ते जाइये और लड़िये। मैं देख लूंगा कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं।" भीमसेन ने सबको विदा किया और खुद मालवों के दल की तरफ बढ़ा।

मालव-राज के पास एक हाथी था। उसका नाम अश्वत्थामा था। मालव-राज पांडवों की ओर से लड़ रहे थे। भीमसेन ने मालव-राज के उस अश्वत्थामा नामक हाथी को मार डाला और घोष किया—"अश्वत्थामा मारा गया! अश्वत्थामा मारा गया!"

भला, भीम की यह घोषणा ठेठ द्रोणाचार्य के कानों तक पहुंचे बिना कैसे रहती?

द्रोण के कानों ने सुना—"अश्वत्थामा मारा गया।"

"कौन कहता है?" द्रोण ने पूछा।

"भीमसेन कहता है कि आपका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया।"

द्रोण बोले—"भीम झूठ बोलता है। मैं द्रोण आज इस तरह हार छोड़नेवाला नहीं हूं। और, मेरा अश्वत्थामा इस तरह मरनेवालों में था ही कब? बच्चू भीम! इस तरह मुझसे शस्त्र रखवा कर बध करना चाहते हो, क्यों? अरे, आज शाम तक मेरी भी मार देख लेना। मैंने दुर्योधन का नमक खाया है। बच्चे धृष्टद्युम्न! अपनी बहन को रानी बनाना हो तो तैयार हो जा। आज तेरा अन्तिम दिन है।"

भीम की पुकारों से द्रोणाचार्य अतिशय उत्तेजित हो उठे थे, इसलिए वह दूने जोर से लड़ने लगे। इतने में ही सामने ही द्रुपद के बीस हजार पांचालों को देखकर द्रोण की आंखों में खून उतर आया। उनके हाथ खुजलाने लगे और उन्होंने ब्रह्मास्त्र चला दिया! द्रोण का वह ब्रह्मास्त्र! बेचारे पांचाल उसे समझें भी क्या? बीसों हजार जहां-के-तहां स्वाहा हो गये।

किन्तु तुरन्त ही अन्तरिक्ष में ऋषि आ खड़े हुए—वशिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज सभी आये।

"द्रोण! तुम्हारा समय अब पूरा होने आया है। तुम ब्राह्मण हो; युद्ध-जैसे ये क्रूर कर्म ब्राह्मण को शोभा नहीं देते। तुम यह क्यों भूल जाते हो कि हमारा जन्म जगत् में शांति की स्थापना के लिए है।"

द्रोण ने ऊपर को ओर देखा—अपने दूषित हाथों से सबको नमन किया, और अपनी इस उग्रता के पीछे छिपी हुई शांति का क्षणभर स्मरण किया।

"द्रोण! तुम तो धनुर्विद्या के आचार्य हो! ये पाण्डव और कौरव तुम्हारे शिष्य हैं। तुम उठे और इन बेचारे पांचालों पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर बैठे! क्या यह तुम्हें शोभा देता है? जो बेचारे ब्रह्मास्त्र का नाम भी नहीं जानते, उनपर उसका प्रयोग कर के तुमने अधर्म युद्ध किया है, और धनुर्विद्या के नियम को तोड़ा है। इसके लिए तुम्हें प्रायश्चित्त करना चाहिए। अब भी सोचो; अपने-आपको भूलकर इस तरह लड़ने लगे हो, यह ठीक नहीं।"

ऋषि अन्तर्द्धान हो गये, किन्तु द्रोण के हृदय को भारी आघात पहुंचा। उनके हाथ ढीले पड़ गये, उनकी पेशानी पर पसीना आ गया, उनके शस्त्रों की धार बोथरी पड़ गई। बकरियों के झुण्ड पर झपटने वाले बाघ की तरह

क्षणभर पहले जो द्रोण पांडव सेना पर टूट पड़ते थे, उनको अपने आप पर ग्लानि हो आई, उन्होंने अनुभव किया कि उनके हाथों कोई महान् अकर्म हो गया है! "जब वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे ऋषि भी कहते हैं, तो मुझे इस कार्य से विरत हो जाना चाहिए।" द्रोण फिर सोच में डूब गये—"आखिर यह सब किसके लिए? जिस अश्वत्थामा के लिए मैं अबतक जीता आया हूं, अगर वह मारा गया है, तो मैं राह भी क्यों देखूं?" द्रोण आकुल-व्याकुल हो गये; उनके गात्र शिथिल होने लगे; उनकी आंखों के सामने हल्का-सा अन्धेरा छा गया। "किन्तु मेरा अश्वत्थामा यों मर ही नहीं सकता। तो फिर भीम झूठ क्यों बोला होगा? लड़ाई का मामला है; हो सकता है, कि मेरा पुत्र काम आ गया हो। तो फिर? नहीं, तो भी भीम का विश्वास तो नहीं किया जा सकता। पूछना है तो युधिष्ठिर से ही पूछना चाहिए। जन्म से आज तक वह कभी असत्य नहीं बोला। यह तो हस्तिनापुर के राज्य की बात है, किन्तु त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी युधिष्ठिर असत्य नहीं बोलेगा। चलूं; उसीसे पूछूं।"

द्रोण सेना के अग्रभाग में आये और गर्जना की—"हे पृथापुत्र युधिष्ठिर! सामने आओ, मुझे तुमसे एक बात पूछनी है।"

दोनों सेनायें कुछ देर के लिए थम गईं; हाथी, घोड़े, रथ आदि खड़े रह गये; योद्धा कुतूहल के साथ देखने लगे और महाराज युधिष्ठिर का रथ पांडव सेना के अग्रभाग में आया। उनके रथ से सटाकर ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ खड़ा किया।

"गुरुदेव! क्या आज्ञा है?" युधिष्ठिर बोले।

"तुम्हारा यह भीमसेन कहता है कि अश्वत्थामा मारा गया। क्या यह सच है?"

युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की ओर देखा। [illegible]

न था। श्रीकृष्ण ने कहा—"महाराज युधिष्ठिर। अगर ये द्रोणाचार्य आज शेष आधे दिन और लड़े, तो समझ लीजिए कि आपकी समूची सेना समाप्त हो जायगी। आप तो इस समय धर्म-अधर्म की तराजू लेकर तोलने बैठे ह, किन्तु आपकी मदद के लिए आए हुए इन लाखों योद्धाओं के जीवन का भी विचार कीजियेगा। उनके जीवन आज आपकी तराजू में तुल रहे हैं, इसलिए घबराइये मत; और बिना झिझके गुरु को जवाब दीजिये।"

भीम तो निरे असत्य का भी समर्थन करने को तैयार था। किन्तु महाराज युधिष्ठिर सोच में पड़ गये—"जीवन-भर जिस सत्य का सेवन किया, आज उसे इस तरह धूल में मिला दूं? माता कुन्ती यह सब जानेंगी, तो वे मुझे क्या कहेंगी? किन्तु नहीं, नहीं। अकेले अपने सत्य पर दृढ़ रहकर मेरे लिए अपनी सारी सेना का नाश करना कदापि धर्म न होगा। श्रीकृष्ण ठीक कहते हैं।" युधिष्ठिर बोलने को तैयार हो गये।

फिर विचार आया—"और यह भी तो है कि जिस हेतु से यह सारा युद्ध रचा है, उस हेतु को ही छोड़ दिया जाय, तो फिर जीवन में रह ही क्या जाता है? विजय तो मिलनी ही चाहिए। तो क्या विजय के लिए इतना भी न किया जाए?"

फिर एक विचार आया—"किन्तु क्या इस तरह असत्य से सनी हुई विजय, विजय होगी?"

"युधिष्ठिर!" द्रोण अधीर होकर बोले। "युधिष्ठिर! जवाब दो। क्या अश्वत्थामा मारा गया है? अगर मारा गया हो, तो वैसा कह दो; इसमें हिचकिचाने को तनिक भी आवश्यकता नहीं। आज इन अशुभ समाचारों को सुनने के लिए द्रोण तैयार है।"

किन्तु युधिष्ठिर जवाब देने को तैयार न थे।

युधिष्ठिर का हृदय सत्य और विजय के बीच झोंके खाने लगा; उनके शरीर से पसीना छूटने लगा। किन्तु आखिर में वह बोले—"अश्वत्थामा हतः।"

दूसरे ही क्षण सवाल उठा—"किन्तु अश्वत्थामा तो जी रहा है न ?" फिर मन्थन शुरू हुआ। "युधिष्ठिर ! ऐसा घोर असत्य ? इतना सफेद झूठ ! तेरी सत्यवादिता कहां गई ? भला, सच तो कह !" और धर्मराज ने सोचा—"तो, सच ही कह दूं।" और बोले—"नरो वा कुंजरो वा।"

"किन्तु हे जीभ, जरा सम्भल कर बोलना भला ! कहीं द्रोण इन शब्दों को सुन न लें।"

पांडवों के युधिष्ठिर ने तय किया—"ये शब्द कहे तो जायें, किन्तु इतनी धीमी आवाज़ में कहे जायें कि द्रोण सुन न सकें, और कैसे, कहने को यह कहा जा सके कि ठीक ही तो कहा था।"

युधिष्ठिर गुनगुनाये—"नरो वा कुंजरो वा। नरो वा कुंजरो वा। नरो वा कुंजरो वा।"

"हमने तो जो सच था, सो कह दिया। फिर गुरु द्रोणाचार्य न सुने और शस्त्र त्याग दें, तो इसमें हम क्या करें ?" युधिष्ठिर ने अपने मन को मनाया।

युधिष्ठिर ने सत्य छोड़ा—द्रोण ने शस्त्र छोड़े। युधिष्ठिर के मुख ने कान्ति छोड़ी, जगत् ने कुछ देर के लिए प्रकाश छोड़ा और दिशायें काली पड़ गईं।

"युधिष्ठिर ! यार, क्या कहते हैं, तुम्हारे शब्द-चातुर्य के ? इस शब्द-चातुर्य ने द्रोण को ठगा, किन्तु यह शब्द-चातुर्य मनुष्य के [illegible] की निष्कलंक सत्ता को कैसे ठग सकता है ? यह शब्द-चातुर्य मेरे अपने ही हृदय में बैठे

का पता रखते और चोर आदि को दंड देते; लोक कल्याण के उपाय करते और चारों वर्णों का समुचित संरक्षण करते और इतना सब करने के बाद भी इस सबको परमात्मा के हवाले करके वे एक क्षण को भी यह न भूलते थे कि स्वयं इन सबसे अलग है। इसलिए लोग उनको विदेही जनक कहते थे।

मिथिला विदेह की राजधानी थी। मिथिला नगरी के बीचोंबीच जनक महाराज का महल था, और महल के आस-पास कोई एक हजार संन्यासियों की पर्णकुटियां थीं। मिथिला के सिंहासन पर बैठने पर भी जनक महाराज को फकीरी का शौक था। महाराज्य का सिंहासन छोड़कर साधु-संतों की चरण-सेवा करना उन्हें बहुत प्रिय था। अच्छे खासे राजा थे; छत्र-चमर धारण करके और रेशमी वस्त्र पहन कर जब सिंहासन पर बैठते, तो क्षणभर ऐसा प्रतीत होता, मानो स्वयं इन्द्र ने ऐश्वर्यों का उपभोग करने के लिए अवतार धारण किया है! किन्तु इस राज महलकी खिड़की से इस सिंहासन पर से ही रामानिक से जड़े इन छत्र-चामरो के पीछे से भी जनक की दृष्टि तो अपनी पर्ण कुटी में टंगे हुए उस मृगचर्म और कमण्डल पर कौपीन और दंड पर ही रहा करती थी। प्रतिदिन प्रभात में राजमहल के उद्यान से कोयल कूकती और पर्णकुटियों से वेद की ध्वनि उठती; प्रतिदिन रात को जब सारी मिथिला सो जाती, इन पर्णकुटियों में वेदान्त की चर्चा शुरू होती।

जनक राजा के दरबार में अष्टावक्र मुनि कथा वांचते। प्रतिदिन सांझ के समय जनक राजा राज-काज से छुट्टी पाकर सभामंडप में आते, और क्या संन्यासी क्या गांव के श्रद्धालु लोग, और क्या महाराज जनक, सभी अष्टावक्र का उपदेशामृत ग्रहण करते। यों तो अष्टावक्र आठो अंगों से टेढ़े थे, इसलिए अनजान आदमी को तो उन्हें देखते ही हंसी आ जाती थी, और मन में विचार आता था कि ऐसे बांके-टेढ़े आदमी में रत्ती भर भी अक्ल होगी या नहीं। लेकिन परमात्मा का प्रसाद किसे प्राप्त होता है,

सो कौन कह सकता है ? अष्टावक्र जन्म से ही ज्ञानी थे; माता के गर्भ में ही उन्हें परमात्मा का ज्ञान हो चुका था। जनक महाराज उनके ज्ञान पर, उनकी निष्ठा पर, और उनके उपदेश पर मुग्ध थे। अष्टावक्र मुनि भी महाराज जनक के समान श्रोता को और कहां ढूंढने जाते ? अष्टावक्र को यह निश्चय हो चुका था कि सिंहासन पर बैठने पर भी जनक मन से विरागी हैं, फकीर हैं। यही कारण था कि जनक-जैसे राजा का गुरु बनने में अष्टावक्र को अनोखा आनन्द आता था। दुनियादारी से बहुत ऊपर उठ चुकने पर भी, ऐसे गुरु-शिष्यों के हृदय एक दूसरे के लिए कितने अनुरक्त हो चुकते हैं, सो कौन कह सकता है ? 'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्' ।

एक दिन सांझ की कथा का समय होने आया। सभा-मण्डप सारा सुसज्जित था। आसन सब बिछ गये थे। गुरु अष्टावक्र के लिए ऊंचा आसन बिछा दिया गया था। सारा मण्डप धूप से महक रहा था। आस-पास के सुगन्धी पुष्प चारों तरफ अपनी सुवास फैला रहे थे। श्रोतागण सब एक के बाद एक आ रहे थे।

"कहिये विरजानन्दजी ! कल की कथा कैसी रही ?"

"अजी, छोड़ो भी उस बात को ! हम तो सब-कुछ देख चुके हैं।"

"कहिये तो, क्या देख चुके हैं ?"

"इसमें कहना और क्या था ? क्या जिस चीज को मैं समझता हूं, वही तुम्हारे मन में भी नहीं है ?"

"लेकिन कुछ कहोगे, तभी पता चलेगा न ?"

"वेद-वेदान्त की ये सारी बातें ठीक हैं; लेकिन और तो सब राम-राम ही समझो।"

"सचमुच, मुझे भी यही कहना है।"

६

"इसलिए शास्त्र में लिखा है कि संन्यास के बिना मोक्ष नहीं। राजा कितना ही दिखावा क्यों न करे, तो भी वह हमारे-जैसा थोड़े ही कहा जा सकता है ?"

"नहीं जी, नहीं। वे बातें तो करेंगे ब्रह्म-परब्रह्म की, विवेक और वैराग्य की, किन्तु गले-गले तक राग में सने होंगे। सवेरे सुवासित पदार्थों से नहाना, तेल मलना, रेशमी वस्त्र पहनना, अनेकानेक जीवों की हिंसा करना, भोग भोगना, रनिवास में जाना, प्रतिदिन राजकोष का निरीक्षण करना, छतर-पलंग पर सोना, सोने-चांदी के आभूषण धारण करना और यह सब करते हुए शाम को आंखें मूंद कर एक घंटा कथा सुनना !"

"आप ठीक ही तो कहते हैं। कहां ये भोग विलास और कहां हमारी वेदान्त-कथा ! लेकिन एक बात मेरी भी समझ में नहीं आ रही है।"

"कौन सी ?"

"कहूं ? जीभ तो खुलती तो नहीं, पर आप कहें, तो कह दूं।"

"कहो न ? यहां कौन सुनता है ?"

"यह सब होते हुए भी गुरु अष्टावक्र के मन में राजा के प्रति इतना पक्षपात क्यो है ?"

"वाह, यह भी कोई प्रश्न है ?"

"नहीं, नहीं, कहो तो सही।"

"अरे भाई, गुरु अष्टावक्र मनुष्य हैं या पशु हैं ? उनके भी मनुष्य का दिल है या पशु का ?"

"यह आप क्या कहते हैं ?"

"मैं ठीक ही कहता हूं। गुरु अष्टावक्र को जनक के महल में रहना है; राजा जनक जो खिलायें, सो खाना है। राजा जनक जहां सुलायें वहां

मांगा है, और जनक राजा के यहां कथा बांचती है; फिर उन्हें जनक राजा के प्रति पक्षपात न हो, तो क्या तुम्हारे-मेरे प्रति हो? तुम्हारे पास महल है? तुम्हारे पास भोग्य पदार्थ हैं? तुम्हारे पास पालकियां हैं? तुम्हारे पास चमर डुलानेवाली दासियां हैं? तुम्हारे पास सोने को छत्र-पलंग है? अगर यह सब तुम्हारे पास हो, तो उन्हें तुम्हारे प्रति भी पक्षपात रहने लगे। क्या वे तुम्हारी लंगोटी देखकर पक्षपात करें, या घास-फूस की इस झोंपड़ी के लिए तुम्हें चाहें, या तुम्हारे गांठोंवाले दण्ड के प्रति पक्षपात रक्खें?"

"भाई, यह आप क्या कहते हैं?"

"मैं ठीक ही कहता हूं। तुम अभी बच्चे हो। हम तो इस चीज को बहुत पहले से जानते हैं। लेकिन क्या करें?"

"तो फिर जहां ऐसा पक्षपात होता हो, वहां हम रहें क्यों?"

"तो कहां जायें?"

"सारी दुनिया पड़ी है।"

"सारी दुनिया में कहीं-न-कहीं जाकर रहना तो पड़ेगा ही न, तो फिर यही कौन बुरी जगह है? नई जगह होगी, सब नया-नया देखना-सुनना पड़ेगा।"

यों बातचीत चल रही थी कि इतने में सभा-मण्डप संन्यासियों से ठसाठस भर गया। नगर के भी थोड़े नागरिक आ पहुंचे थे। ठीक समय हुआ और बाहर द्वार पर एक पालकी आकर रुकी। मुनि अष्टावक्र पालकी से नीचे उतरे और सभा-मण्डप में पधारे। अष्टावक्र को आते देख सभी श्रोतागण खड़े हो गये। सबने उन्हें नमस्कार किया। और जब मुनि अपना दण्ड नीचे रख कर आसन पर बैठ गये तो दूसरे सब भी बैठे।

कथा का समय हो चुका था। मुनि ने समूचे सभा-मण्डप पर एक दृष्टि

डाली। सब श्रोता आ चुके थे; केवल महाराज जनक का स्थान खाली था।

"महाराज! कृपा कर कथा शुरू कीजिये।" नित्यानन्द बोले।

"समय हो चुका है, किन्तु जनक आये नहीं हैं।"

"वे तो आ जायेंगे। उन्हें राज-काज रहता है; इसलिए समय पर कैसे आ सकते हैं?" एक संन्यासी ने कटाक्ष किया।

"जनक के लिए कथा पहली या राज्य पहला?" एक दूसरे महाशय ने चिढ़ कर कहा।

"प्रायः उन्हें देर होती तो नहीं, किन्तु कोई महत्व का काम आ गया होगा, और उसके लिए रुक जाना पड़ा होगा। अब उन्हें आना ही चाहिए।" अष्टावक्र बोले।

"किन्तु आप शुरू कीजिये न! आखिर राजा गृहस्थ कहलाते हैं। उन्हें कथा की क्या चिन्ता? उनके लिए तो कथा फुरसत का विनोद है! सच्ची कथा सुननी हो तो राज्य छोड़ कर संन्यासी न बन जायें?"

"महाराज! आप शुरू कीजिये। जनक राजा आ जायेंगे।" एक और संन्यासी ने कहा।

"महाराज! जो कथा के अधिकारी हैं, वे तो सब आ गये हैं।" दूसरा बोला।

"महाराज! हममें से किसी को देर हो जाती है, तब तो आप राह नहीं देखते।" तीसरे ने कहा।

"महाराज! जनक राजा के लिए कथा का समय अलग रखिये। इस समय आप हम संन्यासियों की ही कथा रखें, तो कैसा हो?" चौथे ने प्रश्न किया।

इस तरह एक-के-बाद एक सभी कथा शुरू करने का आग्रह करने लगे। इतने में बाहर बन्दीजनों का स्वर सुनाई दिया और महाराज जनक सभा-मण्डप में प्रविष्ट हुए। मुनि के सिंहासन के पास आकर उन्हें साष्टांग नमस्कार किया और जनक आसन पर बैठे।

मंगलाचरण शुरू हुआ। धीर, गम्भीर स्वर से सभी श्रोता मंगला-चरण में सम्मिलित हुए। वेद के मंत्रों से सारा सभा-मंडप गूंज उठा और वातावरण प्रसन्न-गम्भीर बन गया।

इतने में बाहर पुकार उठी—"दौड़ो, दौड़ो! राजमहल में आग लगी है। दौड़ो, दौड़ो, दौड़ो!"

अष्टावक्र ने कथा शुरू की।

"दौड़ो रे दौड़ो! राजमहल में आग लगी है। पर्णकुटियां अभी आग पकड़ लेंगी!" फिर एक पुकार सुनाई पड़ी।

कथा कुछ आगे चली, किन्तु कथा के शब्द तो बहुत से बहरे कानों पर पड़ रहे थे। संन्यासियों के कानों से तो आग का वेदान्त टकराने लगा था।

"मैंने अपना मृगचर्म बाहर सुखाया है।" एक ने कहा।

"मुझे कल ही तो राजा ने नया कौपीन दिया है।" दूसरे ने कहा।

"मैंने तो अभी-अभी अपनी कुटी के पुराने दरवाजे की मरम्मत करवाई है।" तीसरा बोला।

"चलो, दौड़ो, उधर आग लगी है, और हम सब यहां जो बैठे हुए हैं! सब कुछ जल जायेगा, तो रहने का ठौर-ठिकाना भी न रहेगा। फिर कौन दादाजी दिलायेंगे! कथा तो रोज ही होती है।" चौथे ने उठकर कहा।

कथा चल रही थी।

"अरे भाई, चलो न! बहुत सुनी कथा! ऐसे समय भी कहीं कथा सुनी जाती है?" पांचवां अघोर हुआ।

"अरे दौड़ो, दौड़ो! दक्षिण दिशा की पर्णकुटियों पर चिनगारियां गिरने लगी है।" पुकार मची।

"सब बैठे क्या हो? सुनते नहीं? भले, मुनि जी कथा बांचते रहें, और जनक राजा सुनते रहें।" नित्यानन्द गरजे, और साथ ही संन्यासियों का सागर उमड़ कर द्वार की ओर बढ़ा।

समूचे विशाल मण्डप में एक ही श्रोता बचा रहा।

"महाराज!. राजमहल में आग लगी है तो आप भी पधारिये न!" अष्टावक्र ने कथा बन्द करने का प्रसंग निकाला।

राजा मौन रह गये।

"महाराज! मैंने क्या कहा? राजमहल में आग लगी है। आप पधारिये। कथा आज के दिन बन्द रहेगी।" अष्टावक्र ने फिर कहा।

"महाराज! आप कथा सुनाइये।" जनक बोले।

"लेकिन आपका महल जो जल रहा है?"

"प्रभो! आप आगे कथा कहिये। मैं प्रपंची आदमी ठहरा। मैं इस सारे राज्य की उपाधि उठाये हुए हूं; किन्तु जब आपकी कथा सुनने आता हूं, तब अपना राज्य परमात्मा के चरणों में छोड़ आता हूं। प्रभो! इस समय आपके सम्मुख बैठा हुआ यह जनक विदेह का राजा नहीं है; इस समय तो वह एक फकीर है। यह ऐसा समय है, जब मैं अपना सब-कुछ परमात्मा पर छोड़ देता हूं। अपने इस विचार की कसौटी के लिए परमात्मा जो भी प्रसंग पैदा करेगा, सो सब मुझे सह लेना होगा।"

"किन्तु महाराज! मिथिला जो जल रही है?" अष्टावक्र ने पूछा।

"किसकी मिथिला?" जनक ने प्रतिप्रश्न किया।

"जनक की मिथिला।" अष्टावक्र बोले।

"महाराज! जब आप ही ऐसे कहेंगे, तो मैं कहां जाऊंगा? समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ दे, तो मनुष्य कहां जाय? मिथिला न किसी की कभी थी, न आगे कभी होगी। आप ही ने मुझे यह सिखाया है न? आप ही तो मुझे उपदेश करते हैं कि मैं 'मिथिला मेरी', 'मिथिला मेरी', का अभिमान छोड़ दूं। मिथिला तो मेरे नाथ की, परम कृपालु परमात्मा की है।" जनक गद्‌गद कण्ठ से बोले।

"किन्तु क्या तुम्हें उसे संभालना न चाहिए?"

"प्रभो! सभालना तो चाहिए; किन्तु जितना मैं मिथिला को संभालूं उतना ही मुझे अपनी आत्मा को भी संभालना है। प्रतिदिन सारा समय मिथिला की संभाल रखता हूं, किन्तु जब कथा सुनने आता हूं, तो उसे जगत् के नाथ को सौंप आता हूं। इसलिए इस समय मुझे उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। आप कथा आगे चलाइये।" जनक ने उत्तर दिया।

जब मुनि और जनक के बीच इस प्रकार बातचीत चल रही थी, तभी गये हुए सन्यासी सब एक-एक करके वापस सभा-मण्डप में आने लगे।

"कहिये नित्यानन्दजी! आग बुझ गई न?" अष्टावक्र ने पूछा।

नित्यानन्द ने सिर नीचे झुका लिया।

"कहिये विरजानन्दजी! कितना हिस्सा जल गया?" अष्टावक्र ने फिर पूछा।

"महाराज! जब आग देखी, तब तो बड़ी-बड़ी लपटें उठ रही थीं, किन्तु आकर देखा तो घास का एक तिनका भी जला नहीं दिखा।" विरजानन्द ने जवाब दिया।

"महाराज! एक शंका हो रही है। आज्ञा हो तो पूछूं।" विशुद्धानन्द बोले।

"क्या शंका है?"

"आपने माया तो नहीं की थी?"

"विशुद्धानन्द। यही बात है। मैं देख रहा था कि आप सबको बहुत दिनों से अपने संन्यास का अभिमान रहने लगा था। आप जनक के महल की अपेक्षा अपनी पर्णकुटी को अधिक पवित्र समझते हैं; उनके वैभव की अपेक्षा अपने त्याग को उच्च मानते हैं; उनके साधनों की अपेक्षा अपनी लंगोटी को श्रेष्ठ समझते हैं; उनकी उपाधि की तुलना में अपने संन्यास को बड़ा मानते हैं।" अष्टावक्र बोले।

"जी हां, सो तो है ही।"

"यह सच नहीं है। संन्यास को गृहस्थाश्रम से बड़ा मानने के बदले संन्यास की वृत्ति ही गृहस्थ के राग-द्वेष से उच्च है, यह मानना अधिक उपयुक्त होगा। पवित्रता-अपवित्रता महल में या पर्णकुटी में नहीं, किन्तु उस महल या पर्णकुटी में रहनेवाले आदमी के अन्तर में है। यह न समझिये कि वैभव के साधनों में हीनता है और लंगोटी में उच्चता है। जहां रहें, वहां लंगोटी वृत्ति रक्खें, तो बस है। आपके पास अपनी [लंगोटी में भी लंगोटी-वृत्ति कहां है? कभी किसी की गलती से आपके कमण्डलु में छेद हो जाय, तो आपको उसका इतना दुःख होता है, जितना जनक राजा को करोड़ रुपये जाने पर भी नहीं होता। अभी कल ही जब चूहा आपकी लंगोटी काट गया, तो केवल इसके लिए आप चूहों का यज्ञ करने की बात सोचने लगे थे।" अष्टावक्र कहते गये।

"महाराज! हम आपकी बात को समझ रहे हैं।" नित्यानन्द बोले।

"आज ही जनक राज-सभा से कुछ देर में आये, तो आप लोग कितने

उतावले हो गये थे ? आप सोचने लगे कि कथा सुनने के अधिकारी तो आप ही हैं। जनक राजा पर आपने न जाने कितने कटाक्ष किये। यह सब किस बात का सूचक है ?" अष्टावक्र ने पूछा।

"जी, बिल्कुल ठीक है।"

"देखिये, सच्चा अधिकारी कौन है, आप या जनक ? आप सब समस्त संसार का त्याग करके बाहर निकले हैं। लेकिन कहीं लंगोटी जल न जाय, इस डर से भागे ! आपने सारी दुनिया तो छोड़ी, किन्तु लंगोटी न छोड़ सके। जनक राजा सारे विदेह के राजा हैं, लेकिन कथा के समय वे समूचे विदेह का त्याग कर बैठे, और मिथिला को परमात्मा के हवाले कर दिया। सन्यास आपका सच्चा या जनक का ? कथा के सच्चे अधिकारी आप या जनक ?" अष्टावक्र ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

संन्यासी चुपचाप सुनते रहे।

कथा समाप्त हुई। अष्टावक्र मुनि अपने स्थान को गये; जनक राजा महल में गये; संन्यासी सब अपनी-अपनी पर्णकुटियों की तरफ चले।

सभा-मण्डप के चबूतरे पर खड़ा एक संन्यासी गुनगुनाया—"क्या अब भी गृहस्थाश्रम में लौटा जा सकता है ?"

: १२ :

छोटेभाई बड़ेभाई

गंगा के तट पर दो तपोवन थे—एक बड़े भाई का, और एक छोटे भाई का। तपोवन के वृक्ष आकाश के साथ बातें करते; तपोवन का धुआं बल खाता और गुच्छलियां बनाता हुआ छप्परों की राह ऊपर चढ़ता; प्रतिदिन सवेरे तपोवन की पर्णकुटियां वेद-ध्वनि से गूंज उठतीं; तपोवन के शान्त-स्वच्छ जलाशय वस्तुमात्र का प्रतिबिम्ब धारण करते; तपोवन के हरिण ऋषि-पत्नियों के हाथ से दूब खाते और खेलते; तपोवन के तपस्वी ईश्वर को पहचानने के लिए देह को घुला डालनेवाली तपस्या करते।

बड़ेभाई और छोटेभाई एक ही मां की संतान थे। सांसारिक भोगों और ऐश्वर्यों से ऊब दोनों घर छोड़ निकल पड़े थे; गंगा के तट पर आकर उन्होंने विश्राम किया। डेरा डाला; किन्तु वहां भी उनके चारों ओर तपोवन खड़े हो गये। दोनों के अपने आश्रम थे। दोनों के अपने शिष्य थे। दोनों अपने-अपने आश्रमों की व्यवस्था करते थे। दोनों कुशल व्यवस्थापक थे। प्रतिदिन प्रातः अपने नित्यकर्म से निबट कर छोटेभाई बड़ेभाई के आश्रम में जाते। बड़ेभाई के चरणों में नमन करते, कुशल पूछते और "भैया, कोई आज्ञा है?" इतना पूछ कर वापस आ जाते, प्रतिदिन सांझ को बड़ेभाई छोटेभाई के आश्रम में जाते, आश्रम के कुशल-समाचार पूछते, शिष्यों से छोटेभाई की कुशल पूछते, एकाध ढोंगी-पाखंडी शिष्य को

समझाते, छोटेभाई से मिलते, उन्हें अन्तर के आशीर्वाद देकर लौटते, और मन ही मन प्रसन्न होते हुए चले आते।

दोनों की तपस्या लोगों से छिपी न थी। गंगा-तट के प्रदेश का राजा उनकी आज्ञा को सिर-माथे चढ़ाता और उस स्थान की रक्षा करने में पुण्य अनुभव करता था। आस-पास के लोगों का जी जब दुनियादारी की हवा से अकुलाने लगता, दम घुटने लगता, तो वे तनिक सुख की सांस लेने के लिए इन तपोवनों में आ जाते और बहुत निश्चिन्तता का अनुभव करते। कुछ समय रहकर फिर अपनी दुनिया में लौट जाते, और तपस्वियों का स्मरण किया करते। दोनों ऋषि-बन्धु भी पर्वों के अवसर पर आस-पास घूमने निकल पड़ते, और लोगों को उपदेश देकर प्रजा की संस्कारिता और धार्मिकता को बनाये रखते।

और, इन सबको—ऋषि-बन्धुओं को, प्रजा को और राजा को, तपोवन को, तपश्चर्या को, गांवों को और राजधानी के नगर को, दुनियादारी को और राजकाज को यानी सब किसीको—जीवन पहुंचानेवाली गंगामैया तो तपोवन के वृक्षों के चरण धोती, गांवों के खेतों का पोषण करती, और राजधानी के महलों की सीढ़ियों को पखारती सनातन काल से बहती ही रहती है। तपस्वी आते हैं और जाते हैं, लोग पैदा होते हैं, और मरते हैं; राजा गद्दी पर बैठता है और चल देता है; तपोवन खिलते हैं और मुरझाते-सूखते हैं; गांव खण्डहर बनते हैं, और खड़े होते हैं; राजधानियां बनती हैं और बिगड़ती हैं; तपश्चर्या, संसार-व्यवहार और राज-प्रबन्ध, सबके रूप बदलते हैं; किन्तु नहीं बदलता एक गंगामैया का अखंड जीवन-प्रवाह। गंगा तो सदा गंगा ही है; हिमालय से उतरती, सागर की गोद में विलीन होती और बाहर निकलती, समूचे देश को उपजाऊ बनाती, और अन्ततः समुद्र में विलीन होती, गंगा तो वही पतित-पावनी गंगा है।

एक दिन सवेरे छोटेभाई बड़ेभाई के आश्रम में आये। गर्मियो के दिन थे। आश्रम की अमराइयों में कोयल कूक रही थी। आम के पेड़ फलों के भार से झुके जा रहे थे; पास ही कुछ दूर पर नदी की रेत में ऋषिकुमार खेल रहे थे। जब छोटेभाई अमराई की तरफ आगे बढ़े, तो कोयल ने उनका स्वागत किया—'कुहू-कुहू' की मीठी आवाज गूंज उठी। एक बड़ा रसीला आम का पेड़ था। लम्बे-लम्बे और मुलायम उसके पत्ते थे, और उस पर बड़े-बड़े आम लटक रहे थे। छोटेभाई की दृष्टि एक गदराये हुए आम पर पड़ी और वहीं चिपक गई। बहुत सुन्दर गदराया हुआ आम था, बिल्कुल पकने को था; आज डंठल से छूट कर गिरे या कल गिरे, ऐसी हालत थी। छोटेभाई की दृष्टि टिकी सो टिकी; किन्तु जिस तरह चतुर सारथी घोड़ों की लगाम खींच लेता है, छोटेभाई ने उसी तरह अपनी आंखें वहां से हटा लीं और आगे बढ़ कर बड़ेभाई के स्थान पर पहुंचे।

बड़ेभाई भिनसारे ही कहीं बाहर निकल गये थे; सांझ तक लौटने वाले थे। छोटेभाई कुछ देर ठहर कर तुरन्त ही उसी अमराई की राह लौट पड़े।

लेकिन वह गदराया हुआ आम! कोयल फिर कुहक उठी। उन लम्बे-लम्बे पत्तों पर दृष्टि फिर जा पहुंची। ओह, उस गदराये आम के छिलके पर रंगों की कैसी अद्भुत छटा थी!—"क्या यहां कोई है?" दूर पर रेत में ऋषिकुमार खेल रहे थे, और उनकी आवाज-भर सुनाई पड़ रही थी। छोटेभाई आम के पास गये। हाथ बढ़ाया। ऐसा लगा, मानो वह खुद झुक कर समीप आ रहा हो। "किन्तु 'नहीं, नहीं', ऐसे कितने ही आम क्या मेरे तपोवन में नहीं है?" छोटेभाई दो कदम आगे बढ़े; फिर एक बार मुड़ कर आम पर दृष्टि डाली; आम के हरे-पीले रंगों ने छोटेभाई की आंखों पर जादू-सा कर दिया—एक मोहिनी डाल दी! छोटेभाई फिर दो कदम लौट पड़े, हाथ बढ़ाया, और अभी आम को छू भी नहीं पाये थे कि इतने में

पता नहीं कैसे, क्यों, वह उसके हाथ में आ रहा ! "कोई है ?" कोई भी तो न था । कोयल तक उड़ चुकी थी । केवल सामनेवाले नीम पर से एक कौवा कांव-कांव करता हुआ उड़ गया ।

* * *

छोटेभाई आश्रम के बिछौने पर लोट रहे हैं । आज उनका चित्त स्वस्थ नहीं है । बड़ेभाई के आम के रस ने उनके जीवन में विष घोल दिया है । छोटेभाई ने नौलिक्रिया द्वारा उसके सारे रस को वमन कर डाला है, तो भी विष अभी पूरी तरह उतरा नहीं । दोपहर ढली, शाम हुई, रात भी आ पहुंची । सारी रात बिछौने में करवट बदलते रहे, लोटते रहे । छोटेभाई की योग-निद्रा आज उनकी न रही; छोटेभाई की जपमाला आज उनके हाथ से खिसक गई; जिस आकाश और तारों के दर्शन से छोटेभाई की शान्ति बढ़ जाया करती थी, वही आकाश और तारे आज उन्हें दुःख दे रहे हैं । कब सवेरा हो, कब दिन उगे, मन में इसीकी धुन लगी है ।

दूसरे दिन का सूरज उगा । बड़ेभाई तो रात देर से आश्रम में पहुंचे थे । छोटेभाई रोज के समय पर बड़ेभाई के आश्रम की ओर चले । अमराईवाले हमेशा के मार्ग को छोड़ कर आज छोटेभाई के पैरों ने दूसरी ही राह ली । आश्रम के पिछले द्वार से छोटेभाई ने बड़ेभाई के आश्रम में प्रवेश किया; उस द्वार के मार्ग में कांटे डाले गये थे, इसलिए उधर से आने में उनके शरीर पर थोड़ी खरोंचें भी आईं ।

"कहो भाई ! आये ? कल तो मुझे अचानक जाना पड़ा और मैं तुम्हें खबर तक न भेज सका । तुमको व्यर्थ का चक्कर पड़ा होगा ?" बड़ेभाई ने कहा ।

छोटेभाई ने कोई जवाब नहीं दिया । वह सिर नीचा किये जमीन कुरेदते रहे ।

"क्यों भाई ! आज कुछ बोलते क्यों नहीं हो ? शरीर तो स्वस्थ है न ?'

छोटेभाई की आंखों से गंगा-यमुना का प्रवाह वह चला।

'भाई, यह क्या बात है ? तुम रोते क्यो हो ? क्या किसी बात का बुरा लगा है ?" बड़ेभाई ने अधीर भाव से पूछा।

छोटेभाई से रहा न गया, हृदय भर आया, और वह फूट-फूट कर रोने लगे।

"भाई ! मुझसे कहो तो सही, बात क्या है ?"

"बड़े भैया ! मुझे क्षमा करो ! मैंने आपकी चोरी की है।"

"चोरी ? यह तुम क्या कहते हो ? हमने चुराने-जैसी कोई चीज ही अपने पास कहां रक्खी है कि चोरी हो ! दुनिया की चोरी से त्रस्त होकर ही तो हमने अपरिग्रह का सिद्धान्त स्वीकार किया है। चोरी किस चीज की ? बात क्या है ?"

"भैया ! चोरी का आधार जितना वस्तु पर है, उससे भी अधिक मन की वृत्ति पर है। मैंने अपरिग्रह के विचार से संसार छोड़कर तपोवन में रहना तो शुरू किया; किन्तु जो परिग्रह मेरे मन में घुसा हुआ है, वह कहा जाय ? भैया ! मेरी अपेक्षा तो नामी चोर अच्छा; क्योंकि दुनिया जानती है, कि वह चोर है।"

"लेकिन हुआ क्या, सो तो कहो ?"

"मैंने आपका एक आम चुराकर खाया है।"

"तुनने मेरा आम चुराया है ? तो इसमें हुआ क्या ? मेरा एक आम तो ठीक, किन्तु क्या यह समूचा आश्रम ही तुम्हारा नहीं है ?"

"सच है कि आपका समूचा आश्रम मेरा है। यह भी सच है कि आपके आम मेरे आम हैं। किन्तु जिस खुले दिल से आप यह बात कहते हैं, उतने ही

खुले दिल से मैं इस आश्रम को और इन आमों को स्वीकार करूं, तब न? मेरे मन में चोरी जो भरी है, उसका क्या?"

"बात क्या हुई है, सो तो कहो?"

"कल मैं आपकी अमराई के मार्ग से आ रहा था कि एक गदराये आम पर मेरा मन चला गया।"

"तो किसी से कह दिया होता, वह तोड़ देता।"

"तब तो अच्छा ही होता न? लेकिन मैंने वैसा नहीं किया; उल्टे मैंने तो चुपचाप आम चुराया और इस तरह गुपचुप उसे खा गया कि किसी को पता भी न चले!"

"भैया! तुमसे यह दोष हो गया, तो भले हो गया। इसके लिए तुम इतने खिन्न क्यों दीखते हो? अस्तु। फिर तो कोई बात नहीं हुई न? सब कुशल तो है?"

"कुशल क्या होता? जबतक वह आम खाया, मुझे कोई होश ही न था। किन्तु अपने आश्रम में लौटते ही मुझे होश हुआ। खाये हुए आम को मैंने नौलिकर्म से निकाल डाला, लेकिन मेरे मन की वेदना तो अब भी बनी हुई है। मुझे तो सपने में भी खयाल नहीं था कि वर्षों का संयम योग पाकर यों बात की बात में घुल जाता होगा। भैया! मैं तो यही समझ रहा था कि अस्तेय की मेरी उपासना अब सिद्ध हो चुकी है, और वस्तु मात्र के प्रति मेरा मोह नष्ट हो चुका है। कल ही मुझे पता चला कि मेरे हृदय में ये इतनी लालसायें छिपी पड़ी हैं और मौका पाकर प्रकट होने को तैयार हैं।"

"भाई! तुम ठीक कहते हो। लेकिन जो हुआ, सो हुआ; अब ज़्यादा खेद न करो। अधिक जाग्रत रहो; अपने हृदय को अधिक ध्यान से टटोलते और जांचते रहो और परमात्मा से दया की प्रार्थना करते रहो।' बड़ेभाई ने कहा।

"भैया! आप जो कहते हैं, सो उचित ही है। किन्तु मुझे अपने इस पाप का प्रायश्चित्त करना है।''

"इसमें ऐसा कौन बड़ा पाप हो गया है?"

"बात ऐसी नहीं है, भैया! जो मनोवृत्ति दुनिया के नामी चोरों में पाई जाती है, वही मनोवृत्ति मुझमें भी है। चोर तो बेचारा चोर के नाम से मशहूर है, इसलिए लोग उसे पहचानते हैं; किन्तु मैं तो यहां यह तपोवन लेकर बैठा हूं, इसलिए लोग मुझे साधु समझते हैं। फिर भी मैं अपने दिल से तो चोर ही हूं। इसका अन्त करने के लिए मुझे राजा से दण्ड की याचना करनी चाहिए।"

"भाई! तुम्हारी बात यथार्थ है; अतः मैं इससे इन्कार भी कैसे करूं? चलो, हम राजा के पास चलें और न्याय की याचना करें।"

दोनों भाई राजधानी की ओर चल पड़े। दोनों के उपवास था; दोनों के शरीर थके हुए थे; दोनों के मुख पर ग्लानि थी, दोनों आज अपने अन्तःस्तल को टटोलने में लगे थे।

"अन्तस्तल को, हृदय को, वर्षों तक धोते रहने पर भी, कभी-कभी यह दुर्गन्ध उसमें कहां से आ जाती होगी?"

दोनों राजधानी में पहुंचे और कहीं किसी के घर ठहरे बिना सीधे राज-दरबार में चले गये। समाचार पाते ही राजा राज-भवन की सीढ़ियों पर उनके स्वागत के लिए आ खड़े हुए। उन्होंने दोनों ऋषि-बन्धुओं को प्रणाम किया और अत्यन्त विनीत भाव से उनको अपने सभागृह में ले गये।

"महात्माओ! आज आपने मेरा आंगन पवित्र करके मुझे धन्य किया है। कहिये, गुरुदेव! क्या आज्ञा है?" राजा ने चर्चा चलाई।

छोटेभाई की दृष्टि तो जमीन पर पड़ी थी। बड़ेभाई ने राजा की ओर देखा।

"महात्मन्! कहिये, क्या आज्ञा है? आपके तपोवन में तो कुशल है? आपके खेतों में चोरी आदि तो नहीं होती? मेरे सैनिक और सिपाही आपको सताते तो नहीं? आपके शिष्यों का अभ्यास तो भलीभांति चल रहा है न? महात्मन्! मेरे अधिकारी आपको कोई पीड़ा तो नहीं पहुंचाते? कहिये, आप क्यों पधारे हैं?"

"भैया कहो न! हम क्यों आये हैं, सो तुम्हीं कहो।"

"आप ही कहिये, बड़े भैया! मेरी तो जीभ ही नहीं खुलती।"

"इसमें जीभ न खुलने की क्या बात है? सुनिये राजन्! मेरे इन भाई ने मेरी अमराई की एक साग—एक गदराया आम—खा ली है, आप इन्हें इसका दण्ड दीजिये।" बड़ेभाई ने कहा।

"महात्मन्! आम की चोरी क्या? और चोरी पर ही राज चलाने वाला मैं आपको दण्ड किस मुंह से दूं?" राजा ने कहा।

"राजन्!" छोटेभाई ने सिर ऊंचा उठाते हुए कहा—"बात ऐसी नहीं है। यों तो बड़ेभैया का समूचा आश्रम मेरा है, इसलिए मैं उनका एक आम तो क्या, सारे आम खा सकता हूं। किन्तु मैंने अपरिग्रह का व्रत लिया है, और बड़ेभैया का आम चुपचुप खाया है, इसलिए मैं चोर हूं।"

"तो फिर आपके बड़ेभाई ही आपको दण्ड दें।" राजा ने कहा।

"ठीक है। दण्ड देने का उन्हें अधिकार है; किन्तु आज मेरे प्रति अपने स्नेह के कारण वे दण्ड देने को तयार नहीं।"

"जिसका आम खाया, वही जब दण्ड देने को तैयार नहीं है, तो फिर आप स्वयं ही यह हठ क्यों करते हैं?"

"हठ इसलिए कर रहा हूं कि मैंने जो व्रत लिया है, वह दण्ड से बचने के लिए नहीं, बल्कि जीवन का कल्याण करने के लिए है, मेरी इस चोर-

वृत्ति के नष्ट न होने से उनकी हानि हो, चाहे न हो, किन्तु मेरी तो बहुत बड़ी हानि है। इसीलिए मैं दण्ड की याचना कर रहा हूं। यदि बड़ेभाई मुझे दण्ड न दें, तो मेरी दुर्दशा का पार न रहे, इस कारण मैं आपसे दण्ड की याचना करने आया हूं।"

"महात्मन्! आप तो मेरे गुरु हैं। आप जैसों से मेरे समान पामर मनुष्य जीवन की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। जब आप इस क्षुद्र चोरी को चोरी कहते हैं, तब तो मैं इससे कहीं बड़ी चोरियां प्रतिदिन करता होऊंगा। कृपा कर आप लौट जाइये, और मुझे इस संकट से बचा लीजिये।" राजा ने विनती की।

"राजन्! आप भूल करते हैं। आपके हाथ में राज-दण्ड है। आपके चोर, चोर हैं, और अपराध करते हैं, किन्तु हम तो ऋषि कहलाते हैं। आज मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि हमारे ऋषि-जीवन में यह छोटी-सी चोरी भी बहुत भयंकर वस्तु है। इसलिए राजन्! मेरे समान लोगों को दण्ड देना आपका धर्म है। यदि भावनावश होकर आप आज दण्ड न देंगे, तो आपके राज्य पर ईश्वर की अवकृपा प्रकटेगी।" कहते-कहते छोटेभाई की आंखों में खून की लाली उतर आई।

राजा मानो नींद से जाग पड़ा। वह एकदम खड़ा हो गया। और सिंहासन पर बैठकर बोला—"कोई है?"

"जी! आज्ञा?"

"इन छोटेभाई को कठघरे में खड़ा करो।"

छोटेभाई कठघरे में जा खड़े हुए; बड़ेभाई, जहां बैठे थे, दीन भाव से बैठे रहे।

"कहिए महाराज! आपने अपने बड़ेभाई का आम चुरा कर खाया है?"

"जी हां।"

"आप अपना अपराध स्वीकार करते है?"

"जी हां।"

"आपको अपने बचाव में कुछ कहना है?"

"कुछ भी नहीं।"

"सिपाही! लुहार को बुलाओ।"

कुछ ही देर में लुहार आ पहुंचा। उसके हाथ में छेनी और हथौड़ा था।

"इन छोटेभाई के दोनों हाथ पहुंचे के पास से काट डालो?"

कठघरे के मजबूत पटिये पर छोटेभाई ने अपने दोनों हाथ फैला दिये, और मानो लकड़ी की छिलपट उतार रहा हो, इस तरह लुहार ने उनके हाथों से पहुंचों को अलग कर दिया। छोटेभाई के कटे हाथों से और बड़ेभाई की आंखों से लहू की धारा बह चली!

जब वैद्य की मदद से दोनों हाथों पर पट्टी बंधी, तो बड़ी देर में लहू बन्द हुआ।

राजा सिंहासन से नीचे उतरा और बोला—"महात्मन्! आप मेरे गुरु हैं, जबतक हाथ का यह घाव भर न जाय, आप यहीं रहिये।"

"राजन्! आपने मुझ पर बहुत उपकार किया है। आपने मुझे जो दण्ड दिया है, उससे मैं पवित्र हुआ हूं। आपको मेरे बहुत-बहुत आशीर्वाद हैं। मैं यहां अधिक रहना नहीं चाहता। मेरा दिल इसके लिए तैयार नहीं हो रहा। हम तो जंगली पशु कहे जाते हैं, इसलिए हमें तो वन में ही अच्छा आराम होगा।"

सम्मान-पूर्वक राजा से विदा होकर छोटेभाई और बड़ेभाई दोनों अपने-अपने आश्रम को पहुंचे।

* * *

भादों का महीना शुरू हुआ। गंगा जमुना दोनों किनारों में भरकर छल-छल बह रही थी। वर्षा का पानी निथर कर निर्मल हो चुका था।

अमावस का दिन हमेशा पिता के श्राद्ध का दिन होता है। प्रतिवर्ष बड़ेभाई ही श्राद्ध-कर्म करते, किन्तु उस दिन सुबह बड़ेभाई ने छोटेभाई को संदेश भेजा—"भैया ! आज श्राद्ध तुम्हें करना है।" पर छोटेभाई के हाथ ही कहां थे, जो वे श्राद्ध करते ? हाथ की जगह तो दो ठूंठ लटकते थे। ठूंठे हाथों पिताको अर्घ्य कैसे दिया जा सकेगा ? इन ठूंठों की अंजली कैसे बनेगी ?

मध्यान्ह का समय हुआ। छोटेभाई पिता को अर्घ्य प्रदान करने गंगा-तट पहुंचे। गंगा में स्नान किया, पिता का स्मरण करके दोनों ठूंठों को समीप लाये, और मानसिक अर्घ्य-विधि को व्यक्त करने के लिए उन्हें पानी में हिलाने लगे; आंखें तो पिता का स्मरण करती हुई अन्तरतर में पैठ गई थीं, और हाथ के ठूंठ जल अर्पण कर रहे थे, सिर पर सविता देव तप रहे थे।

किन्तु जिस तरह वसन्त का आरम्भ होने पर वृक्षों में नई कोंपलें फूटती हैं उसी तरह छोटेभाई के हाथ के पहुंचे फूटे, पहुंचों से हथेली फूटी और हथेलियों से अंगुलियां और, अंगुलियों से नख !

बड़ेभाई बहुत देर से किनारे आकर खड़े हैं। पितृ-स्मरण समाप्त होने पर छोटेभाई ने आंखें खोली तो देखा कि हाथ जैसे थे, फिर वैसे ही हो गये हैं। "अरे यह क्या ! चलूं, बड़ेभैया को खबर दूं।"

नदी से बाहर निकल कर देखते क्या है, कि बड़ेभाई इस श्राद्ध के साक्षी के रूप में वहीं खड़े हैं। बड़ेभाई को देखकर हर्ष-विह्वल छोटेभाई दौड़ पड़े और उनके पैर पकड़ लिये। बड़ेभाई की आंखें सजल हो आईं।

"भैया मेरे ! आज मुझे नींद आयेगी। जिस दिन तुम्हारे हाथ लुहार से कटवाये, तब से आज तक मेरी आंखें झंपी नहीं हैं, ईश्वर तुम्हें सुखी रक्खे।"

"बड़ेभैया ! मुझे अपने कर्म का फल मिला। आप करते भी क्या ?"

"भैया ! तुम अभी समझते नहीं हो। कर्म की यह सब मीमांसा तो मैं भी जानता हूं। किन्तु जब लुहार ने छेनी पर हथौड़ा चलाया था, तब मेरे अन्तरतर में कैसा अंधेरा छा गया था, सो कौन जान सकता है? भाई! जाओ, अब उस बात को याद न करो।"

छोटेभाई बड़ेभाई दोनों अपने-अपने आश्रमों को गये।

महाभारतकार ने इन दो भाइयों को शंख और लिखित नाम दिये हैं। किन्तु हम उन्हें छोटेभाई और बड़ेभाई के ही नाम से ही क्यों न पहचानें?

: १३ :

यक्ष-युधिष्ठिर

एक वार अपने वनवास के दिनों में पांचों पाण्डव एक निर्जन अरण्य में जा पहुंचे। आगे भीम और सहदेव, वीच में महाराज युधिष्ठिर और द्रौपदी और पीछे अर्जुन और नकुल। सुवह से चले थे। दोपहर हो गई। चलते-चलते थक गये, लस्त-पस्त हो गये। धूप कहे, मैं आज ही तप लूंगी!

"अव तो मुझसे एक डग भी आगे नहीं रक्खा जाता। मेरा कंठ सूख रहा है। मुझे पानी दो।" कहती हुई द्रौपदी वड़ के झाड़ के नीचे वैठ गई।

"भैया! भीम! भाई अर्जुन! अव हम यहीं ठहर जायं और पानी की तलाश करें। मुझे भी जोर की प्यास लगी है।" युधिष्ठिर ने कहा।

"वड़ेभैया! इधर आस-पास तो कहीं पानी दीखता नहीं; इस एक वड़ को छोड़ कर इतने में दूसरा कोई पेड़ भी यहां नहीं; नजदीक में कहीं कोई हरियाली भी नजर नहीं आती; इससे तो ऐसा मालूम होता है कि पानी वहुत दूर होगा।" अर्जुन वोला।

"दूर हो तो दूर, और पास हो तो पास, मेरी जीभ तालु से चिपकने लगी है। पानी, पानी!" द्रौपदी विह्वल होकर वोली।

"सहदेव! यह तुम्हारा काम है। इस वड़ पर चढ़ो और देखो, कहीं पानी दिखाई पड़ता है? चलो, जल्दी करो।" वड़े भैया ने आज्ञा दी।

सहदेव बड़ पर चढ़ा और दूर पर हरे-भरे पेड़ देखकर बोल उठा—"हां, वहां पानी है। लाओ मैं ले आऊं।"

"भैया! जरा जल्दी लौटना भला।" नकुल से न रहा गया।

सहदेव चला। चलते-चलते एक बड़ा सरोवर मिला। सरोवर के किनारे-किनारे घने, घटादार वृक्षों की पांत खड़ी थी; कलरव करते और डालियों पर बैठकर झूलते हुए पक्षियों का पार न था; अपने उदर में समूचे आकाश को प्रतिबिम्बित करने वाला सरोवर जल से छलाछल भरा था, और बतकों के दल-के-दल सरोवर के जल पर बड़े उल्लास के साथ तैर रहे थे।

सहदेव सरोवर की पाल पर चढ़ कर पानी के पास पहुंचा और ज्यों ही पानी में हाथ डालने को हुआ, कहीं से आवाज आई—"ठहरो, ठहरो!"

"अरे, यह कौन बोल रहा है? यहां आस-पास तो कोई मनुष्य दिखाई नहीं पड़ता।"

कुछ देर बाद सहदेव ने फिर हाथ बढ़ाये और फिर आवाज आई—"ठहरो, ठहरो!"

सहदेव ने चारों तरफ निगाह डाली। फिर सोचा, यह तो असल में मेरा भ्रम ही है। यहां दूसरा कोई है नहीं। मन यों ही भ्रमित हो गया है। चलूं, जल्दी पानी पीकर भाइयों के लिए पानी ले जाऊं।

फिर हाथ बढ़ाये और फिर सुना—"ठहरो, ठहरो! मैं इस सरोवर का स्वामी हूं। इसके लिए मैंने यह नियम बनाया है कि जो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दे, वही पानी पिये।"

"स्वामी? स्वामी? तू इस सरोवर का स्वामी? तू जानता नहीं कि आज तो यह माद्री का पुत्र पानी पीने आया है। आज इसे तेरे प्रश्नो-त्तर के लिए समय नहीं है; इसे तो आज पानी की जरूरत है।"

सहदेव ने हाथ बढ़ाकर पानी पीना शुरू किया, और पिया न पिया; इतने में तो वह सरोवर के किनारे ढेर होकर पड़ गया !

इधर युधिष्ठिर को चिंता बढ़ी—"बहुत देर हो गई। सहदेव अभी तक पानी लेकर क्यों नहीं आया ? भाई नकुल ? जरा जा कर देखो तो ? देखना, कहीं तुम भी वहीं न रह जाना।"

नकुल चला और सरोवर के किनारे आ पहुंचा। किनारे पर सहदेव की देह ढली पड़ी थी। देखकर नकुल चिंतित हो उठा । लेकिन चिन्ता के लिए समय ही कहां था, वह खुद भी बहुत ही प्यासा था – इसलिए सीधा पानी में पैठा और ज्योंही पीने को हुआ, किसी ने टोका—"ठहरो ! ठहरो !

"यह कौन बोल रहा है ?"

"भाई, ठहरो ! मेरे प्रश्न का उत्तर देने के बाद ही इस सरोवर का पानी पीया जाता है।"

उतने में नकुल ने पानी पीना शुरू कर दिया, और पीते ही वह ढुलक पड़ा।

महाराज युधिष्ठिर की बेचैनी बढ़ी—"नकुल भी नहीं आया ?' अर्जुन ! अब तुम जाओ। तुम्हारे बिना यह काम न होगा।"

अर्जुन रवाना हुआ, सरोवर के तट पर पहुंचा, पानी के पास गया, और ज्योंही पानी पीने को हुआ, किसी ने कहा—"ठहरो, ठहरो !"

"कौन है ?" चारों ओर नजर दौड़ाई, तो देखा, थोड़ी दूर पर नकुल और सहदेव ढले पड़े है।

फिर पानी पीने को हाथ बढ़ाया और फिर सुना—"ठहरो!"

अर्जुन से न रहा गया—"बड़ा आया है, ठहरो-ठहरो कहने-वाला, ज़रा सामने तो आ, तेरी सूरत तो देखूं ? फिर तुझे दिखाऊं

कि तू किसे ठहरो, ठहरो कह सकता है ! देखे हैं, मेरे ये बाण ? मुझे पानी पी लेने दे। फिर मैं अपने इन भाइयों के बारे में तुझसे निपटूंगा !"

अर्जुन पानी पीने ही वाला था कि इतने में फिर आवाज आई—"ठहरो, ठहरो।"

अर्जुन को क्रोध चढ़ा और वह अपने शब्द-भेदी बाण चारों तरफ बरसाने लगा। लेकिन इस बीच कोई ठहाका मार कर हंसा और बोला—"अरे अर्जुन ! व्यर्थ श्रम क्यों करता है ? तेरे बाण मुझे तो छू भी नहीं सकते। मेरे प्रश्नों का उत्तर दे, और फिर पानी पी। नहीं तो जैसे तेरे ये भाई यहां सोये हैं, उसी तरह तुझे भी सोना पड़ेगा।"

किन्तु अर्जुन क्यों किसी की परवाह करने लगा ? वह तो द्रोणाचार्य का पट्ट शिष्य ठहरा ! अर्जुन ने अंजलि में पानी लिया और कुल्ला किया चाहता था कि वहीं ढुलक पड़ा।

अन्त में भीम आया। उसकी भी वही दशा हुई।

"द्रौपदी ! चारों में से एक भी पानी लेकर न लौटा, इससे मैं तो बहुत ही चिंतित हो उठा हूं। अब मुझे जाने दो। तुम ज़रा राह देखना। मैं पानी लेकर सबके साथ अभी आता हूं।"

धर्मराज युधिष्ठिर पानी लेने आये। उनके मन में तरह-तरह के तर्क-वितर्क चल रहे थे। उनकी बाईं आंख फड़कने लगी। उनके पैर ढीले पड़ने लगे, उनकी छाती धड़कने लगी। सरोवर के किनारे आकर देखते क्या हैं कि चारों भाई चित पड़े हैं। हृदय टूक-टूक हो उठा, छाती फटने लगी—"हाय ! यह मैं क्या देख रहा हूं ?"

कुछ देर बाद जब वे थोड़े स्वस्थ हुए, तो अपने चारों भाइयों की इस दशा के कारण का विचार करने लगे, किन्तु कोई कारण समझ में नहीं

आया। तर्क ही तर्क में युधिष्ठिर पानी तक पहुंच गये, और ज्योंही पीने को हुए, फिर आकाशवाणी सुनाई पड़ी—"हे धर्मराज युधिष्ठिर ! मैंने तुम्हारे इन भाइयों को मार डाला है। मैं इस सरोवर का यक्ष हूं। मैंने तुम्हारे भाइयों से साफ-साफ कह दिया था कि मेरे प्रश्नों का उत्तर देने के बाद ही वे पानी पी सकते हैं। लेकिन उन्होंने मेरी नहीं सुनी। इसीसे उनकी, यह दशा हुई है। अगर तुम भी मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये विना पानी पियोगे तो समझ लो कि तुम्हारे भी यही हाल होंगे।"

युधिष्ठिर स्थिर हुए और शांति के साथ बोले—"हे यक्ष ! मैं सत्य और अस्तेय का उपासक हूं। किसी पराई चीज को उसके स्वामी की स्पष्ट अनुमति के विना लेना एक तरह की चोरी है। अगर मैं ऐसी चोरी करूं, तो मुझे दंड देने का तुम्हें अधिकार है।"

यक्ष ने कहा—"तो तुम मेरे प्रश्नों के उत्तर दो।"

युधिष्ठिर बोले—"मैं नहीं जानता कि तुम्हारे प्रश्नों के यथार्थ उत्तर दे सकूंगा या नहीं। किंतु जैसे मुझे सूझेंगे, वैसे उत्तर तो मैं दूंगा ही। फिर मुझे पानी पीने देना या न पीने देना, सो तुम्हारी मुन्सिफी की बात है।"

फिर तो यक्ष ने युधिष्ठिर महाराज से कई प्रश्न पूछे और युधिष्ठिर महाराज ने उनके सुन्दर उत्तर दिये। युधिष्ठिर की धर्मबुद्धि से, उनके अनुभव से और उनकी वाणी से यक्ष प्रसन्न हुआ और कह उठा—"युधिष्ठिर, तुम्हारे उत्तरों से मैं प्रसन्न हुआ हूं। इसलिए तुम्हारे इन चार भाइयों में से जिसे तुम कहो, उस एक को मैं जिला दूं।"

युधिष्ठिर ने तुरन्त ही कहा—"अच्छी बात है, महाराज ! तो आप इस नकुल को जिला दीजिये।"

यक्ष ने कहा—"युधिष्ठिर! तुम्हारी यह मांग मुझे मूर्खतापूर्ण मालूम होती है। यह जो भीम यहां सोया है, इसके बल पर तो तुम अपने बनवास के दिन बिता सके हो। और इस अर्जुन के पराक्रम पर तो बनवास के बाद की तुम्हारी सारी आशा टिकी है। इन दोनों को मरा छोड़ कर इस नकुल को जिलाने की इच्छा करने वाले तुम मूर्ख नहीं, तो और क्या हो? फिर से सोचो; मैं तुमको दुबारा सोचने का अवसर देता हूं।"

युधिष्ठिर जरा तन गये और बोले—"महात्मन्! मैंने जो मांगा है, यथार्थ ही है! मेरे पिता पाण्डु के दो स्त्रियां थीं—कुन्ती और माद्री। कुन्ती के पुत्रों में से एक मैं जीवित हूं, तो मेरी माता माद्री का एक पुत्र तो जीवित चाहिए न? मेरी दृष्टि में चारों समान हैं, किन्तु जब चार में से एक ही को जिलाने का प्रश्न सामने हो, तब तो मेरे साथ माद्री-पुत्र नकुल का जीवित रहना इष्ट है।"

यक्ष की खुशी का पार न रहा। उसने कहा—"राजन्! तुम धर्म के तत्व को भलि-भांति जानते हो, और जो जानते हो, उस पर आचरण भी करते हो, इस कारण मैं तुम पर और भी प्रसन्न हुआ हूं। मैं कहता हूं, तुम्हारे सभी भाई जी उठें।"

यक्ष के मुंह से अभी ये शब्द निकले ही निकले थे; कि चारों पाण्डव जमुहाई लेते हुए उठ बैठे और एक दूसरे की ओर देखने लगे।

मृत्यु के मुंह से लौट कर आये हुए अपने भाइयों को देख कर युधिष्ठिर का हृदय पुलकित हो उठा।

किंतु उनके मन में एक प्रश्न खड़ा हो गया—"आखिर यह यक्ष है कौन?"

"चलो, हम यक्ष से ही विनम्रतापूर्वक पूछें कि यह कौन है?" सबने एक साथ कहा।

युधिष्ठिर ने पूछा—"हे यक्ष ! कृपा कर हमें बताइये कि आप कौन हैं ?"

जवाब मिला—"बेटा युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा पिता धर्मराज हूं। तुम निरन्तर मेरा स्मरण करते रहो और मुझे कभी न भूलो, इसीलिए मैं यहां आया हूं; शुद्ध नाम, सत्य, दम, पवित्रता, सरलता, ईश्वर का डर, साहस, दान, तप और ब्रह्मचर्य, ये दस मेरे अंग हैं। इन्हें तुम कभी न भूलना !"

इतना कहकर यक्ष ने पांडवों को विदा किया।

: १४ :

भगवान् के नाम पर

गांव की सीमा पर भूतनाथ का मन्दिर था। एक छोटा-सा देहरा। पास ही एक छोटा ओसारा था। ओसारे के सिरे पर एक नन्ही-सी कोठरी थी, कोने में कुआं और उससे लगा हुआ बाबाजी का घर। किसी को याद नहीं कि इन भूतनाथ की प्रतिष्ठा कब हुई। गाव के ब्राह्मण तो इन शंकर की गिनती ज्योतिर्लिंगों में ही करते हैं।

सवेरे के कोई दस का अंदाज होगा। यशोदा महादेव के दर्शनों को आई। कोई चालीस साल की अधेड़ उम्र, सफेद कपड़ों के अन्दर से झांकती हुई गोरी देह, गौरव से दीप्त मुख-मंडल, हथिनी-सी चाल, भाल पर बिन्दी, दोनों हाथों में पूजा का सामान, गले में माला। भूतनाथ के दरवाजे को धक्का कर यशोदा अन्दर आई, मन्दिर के गणपति को आचमनी से पानी चढ़ाया, शंकर की विधिवत् पूजा की और बाहर निकल कर पीपल को भी पानी सींचा।

"क्या बाबा जी हैं ?"

"नहीं हैं, मां ! अभी-अभी आटा मांगने गये हैं।" बालाजिन ने उनकी साधना छोड़कर नेक गरदन घुमाई और जवाब दिया।

"मालूम होता है, आज कोई मेहमान आये हैं।"

"हां मां ! कल शाम से आये हैं। कोई बड़े अच्छे जोगी-से मालूम होते हैं। कल तो आधी रात तक आंखें मूंदे बैठे ही रहे, और फिर भिनसारे

जब मैंने चक्की शुरू की तो उनका अपना तम्बूरा बज ही रहा था।" बावाजिन ने कहा।

"तो फिर आज उन्हें भिक्षा के लिए मेरे घर भेज देना।"

"मां! यहां जो कुछ है, सब आप ही का है न? कल रात तो उन्होंने व्यालू करने से इन्कार कर दिया था। अभी के लिए बाबाजी कह गये हैं कि कुछ साग-सब्जी लेते जावेंगे। मेहमान का कोई बोझ थोड़े ही होता है, मां? सब आपका परताप है।"

"प्रताप तो भोलानाथ का है, बहन! हम तो उनके पैर की धूल हैं। लेकिन उन्हें जीमने जरूर भेजना। मैं और किसी को खोजूंगी नहीं।"

"अच्छा मां। आ जायेंगे?"

"आज वे घर नहीं हैं, सो कोई बुलाने नहीं आ सकेगा।"

"कोई बात नहीं; बावाजी उन्हें छोड़ आवेंगे; और नहीं तो यह सन्तो है ही। इसने कौन घर नहीं देखा?"

"बस, सन्तो को भेज देना। देखना भला, बहुत देर न हो जाय! दाल तो चढ़ा कर ही चली थी। जाकर तवा रखने की देर है।"

"आप बिलकुल बेफिकर रहिये। सन्तो जोगी महाराज को लेकर पहुंच जायेगी।" कहते हुए बावाजिन ने यशोदा को बिदा किया और फिर उपले पाथने लगी।

इन योगीराज को पहचाना?

स्वयं देवर्षि नारद—ब्रह्मा के पुत्र, और भगवान् विष्णु के लाड़ले मुनि। नारद की लड़ी चोटी और उनका तम्बूरा सारे संसार में प्रसिद्ध है। आप स्वभाव के बड़े मसखरे हैं, और लोगों को लड़ाने में इतने निपुण कि आपकी फैलाई माया से भुलावे में पड़कर खुद देवता भी आपस में लड़

पढ़ते हैं। जितना आपका तम्बूरा मशहूर है, उतनी ही लोगों में लड़ाई लगाने की यह निपुणता भी। लेकिन इस सबके अन्दर झांक कर देखें तो मालूम होता है कि नारद मुनि तो स्वयं परमात्मा के अन्तःकरण रूप हैं। संसार में जब-जब मानव-समाज के अन्दर दीनता का और दुःखों का पार नहीं रहता, तब-तब नारद उस दीनता के और दुःखों के कारण का पता लगाते हैं, और फिर दौड़े-दौड़े भगवान् विष्णु के पास जाते हैं, और उनसे आग्रह करते हैं कि कोई रास्ता निकालें। प्राणिमात्र की छोटी-से-छोटी वेदना भी उनको व्याकुल बना देती है और वे उसे मिटाने के लिए जमीन-आसमान एक कर देते हैं। विष्णु भगवान् के द्वार नारद मुनि के लिए आठों पहर खुले रहते हैं।

"महाराज! अब उठिये। आपको यशोदा मां के घर भिक्षा के लिए जाना है। अरी सन्तो! सिर पर ओढ़नी डाल ले, ओढ़नी!"

"ये यशोदा मां कौन हैं?"

"सबेरे दरसनों को आई थी न? हमारे ऊपर तो उनकी पूरी-पूरी छांव है। सब उन्हींका परताप है। परब-त्यौहार पर वे हमें कभी भूली नहीं। सिवरात तो उन्हींकी समझिये। आप कभी सावन में आवें तो देखें कि यहां बाम्हन समाते नहीं। सारे दिन मंतर-जंतर पढ़ते रहते हैं, पाठ-पूजा चला करती है; और यशोदा मां हैं कि उन्हें फलहार कराती हैं, लड्डू खिलाती हैं, धोती दुपट्टा देती हैं, दान दक्षिणा देती हैं, और भी न जाने क्या-क्या देती रहती हैं। कभी आप सावनिया सोमवार के दिन यहां आवेंगे, तो सब अपनी आंखों देख सकेंगे।" बाबाजिन ने कहा।

"तो फिर आज यहां कोई ब्राह्मण क्यों नहीं आया?"

"भला रोज-रोज वे क्यों आने लगे? रोज तो बाबाजी ही शंकर

को नहलाते हैं, कनेर के फूल चढ़ाते हैं, और जब दोपहर होते-होते आटा मांग कर लौटते हैं, तो भगवान् को पखारते हैं। रोज आनेवालों में तो एक मां है और दूसरा लच्छू राजगीर।"

"यह लच्छू और कौन है ? शायद कोई भक्त होगा !"

"भक्त कैसा महाराज ! वह तो बाबाजी की चिलम में से दो-चार कस खींचने के लालच से आ जाता है, और जब आता है, तो एक घंटी बजाकर बम-बम-बम भी कर ही लेता है न ?" बावाजिन ने कहा।

नारद ने पूछा—"यहां ब्राह्मणों की बस्ती कितनी है ?"

"बड़ी बिचारी, मुझसे कहती है, जल्दी कर, जल्दी कर, मुझे खेलने तक नहीं देती, और आप घंटों खड़ी बातें करती रहती है।" सन्तो बड़बड़ा उठी।

"महाराज ! हम तो बातों में उलझ गये, और उधर मां बेचारी बैठी आपकी राह देख रही होगी ?"

"अच्छा तो मैं हो आऊं।"

"सन्तो ! जोगीराज को मां के घर छोड़कर झट लौट आना, भला ! रास्ते में कहीं खेलने न लग जाना।"

"हां, तो मैं रोज खेलने लग जाती हूं, क्यों ? बड़ी बिचारी . . .।" सन्तो मुंह फुलाकर बोली।

आगे-आगे घाघरी फहराती सन्तो और उसके पीछे नारद मुनि। गांव के छोटे-से बाज़ार को पार कर के दोनों यशोदा के घर पहुंचे और सन्तो ने आगल खोली।

"कौन है ?" अन्दर से आवाज आई।

"यह तो मैं, योगी महाराज को लेकर आई हूं।"

"पधारे? योगिराज पधारे? पधारिये महाराज!" यशोदा ने नारद का स्वागत किया। हाथ-पैर धोने को पानी दिया और पटे बिछाये।

"सन्तो! तुझे काम न हो तो, बाहर चबूतरे पर बैठ। भोजन के बाद महाराज को वापस घर ले जाना होगा न? तू लिवा जाना।"

"अच्छा मां! मैं बाहर आंगन में खेलती हूं।"

नारद मुनि पटे पर बैठे। साफ-सुथरा लिपा-पुता घर, दीवार में जड़े पटियों पर आईने-से उजले बरतनों की कतारें सजी हुई, कमरे में चारों तरफ रेशमी परदे और मोती के तोरण, कोने में देव-मन्दिर के धूप-दीप और फूलों की सुगन्ध! इतना सुन्दर घर होते हुए भी उसमें कुछ सूना था। नारद मुनि को घर की शांति बात ही भली लगी; किन्तु इस स्वच्छता और शांति के पीछे उन्होंने किसी अभाव का अनुभव किया।

"महाराज! आपकी आज्ञा हो, तो परोसना शुरू करूं?" यशोदा ने नम्र भाव से पूछा।

"किन्तु, क्या घर में और कोई है ही नहीं?"

"जी, वे गांव गये हैं। शायद आज शाम तक लौटें। आने पर वे आपके दर्शनों का लाभ अवश्य लेंगे।"

"तो क्या बच्चों को भी अपने साथ ले गये हैं?"

और, यशोदा की आंखों से [illegible] बह चला। नारद मुनि स्तब्ध हो गये—"बात क्या है?"

"बहन! तुम रोती क्यों हो? क्या तुम्हारे कोई सन्तान नहीं?"

"योगिराज! [illegible] जन्म में अनेक दुधमुंहे बच्चों का [illegible] होगा, इसीलिए भगवान् ने इस जन्म में मुझ को [illegible]। घर है [illegible] है, प्रभु की कृपा से घर में [illegible] भी है, लेकिन [illegible]।

जैसी प्रभु की इच्छा ! इस जन्म में आपके समान साधु-सन्तों के आशीर्वाद लेकर मरूंगी, तो अगले जन्म में बांझपन का यह कलंक मिटेगा।"

नारद मुनि व्यथित हो उठे, "जहां खाने को दानें नहीं मिलते, वहां बाल-बच्चों की भीड़ लग जाती है, और यह बेचारी एक बालक के लिए तरसती है सो इसे कुछ भी नहीं ? मालूम होता है, विष्णु के दरबार में भी सौ मन तेल तले अन्धेरा ही है ! यह बेचारी कितनी श्रद्धालु है ? शंकर पर रोज मछलियां धोनेवाले के घर दर्जनों बालक, और इस यशोदा के लिए यह बांझपन ? कैसा विश्व का न्याय है ? मेरे जैसे न जाने कितने साधु-सन्त इसके यहां भिक्षा पाते हैं। कहने को विष्णु भगवान् कहेंगे कि तुम सब मेरे अपने हो; किन्तु हमारी शक्ति कितनी ? क्या एक श्रद्धालु स्त्री को हम एक सन्तान भी नहीं दे सकते ? चलूं पहले भगवान् विष्णु से ही जाकर मिलूं, फिर दूसरी बात।" नारद मुनि ने पटे पर बैठे-बैठे ही समाधि लगाई, और भगवान् विष्णु के पास पहुंचे।

"क्यों नारद ? इस समय कहां से आये ? बैठो-बैठो !"

"महाराज ! बैठने की फुरसत नहीं है। एक महत्त्व की बात पूछने चला आया हूं।"

"क्या है, पूछो न ?"

"उस यशोदा के अभी तक कोई सन्तान क्यों नहीं, महाराज ?"

"आज जिसके घर में तुम भिक्षा लेने गये थे, वही यशोदा न ? उसे इस जन्म में तो ठीक, अगले छः जन्मों में भी कोई बालक न होगा।"

"अरे-रे-रे, महाराज ! यह कैसा अन्धेर है ?"

"जैसे जिसके कर्म ! मैं तो कर्म के अधीन हूं।"

"महाराज ! हम साधुओं को उसके घर इतनी भिक्षा मिलती है, तो भी उसे कोई सन्तान न होगी ?"

"भाग्य ही में न हो तो क्या किया जाय ?"

"महाराज ! मैं, नारद, आपसे प्रार्थना करता हूँ । क्या इसे एक भी बालक नहीं मिल सकता ?"

"मुझे तो नहीं दिखता ।"

"आप बिल्कुल सच कहते हैं ।"

"जो है, सो कहता हूँ ।"

नारद की समाधि खुली । "जिसे एक बालक तक दिलाने की शक्ति अपने में नहीं, उसके घर भिक्षा लेने से क्या लाभ ?" यह सोचते हुए नारद ने पटा छोड़ दिया । वह उठकर खड़े हो गये ।

"हम बांझों के घर का अन्न आप ग्रहण नहीं करेंगे ?" यशोदा इससे अधिक कुछ कह न सकी, और नारद सीधे गांव छोड़कर आगे बढ़ गये ।

नारद के जाने पर यशोदा ने सारी रसोई गायों को खिला दी और स्वयं दिन-भर भूखी रही ।

* * *

फिर तो कई दिन बीत गये । यशोदा रोज भूतनाथ के दर्शनों को जाती, रोज एक साधु को भोजन कराकर जीमती और रोज भगवान् शंकर से एक ही वस्तु मांगती ।

एक बार एक अमावस के दिन यशोदा ने खीर-पूरी का भोजन बनाया और अच्छी-अच्छी रसोई बनाकर वह भूतनाथ के दर्शनों को गई । मंदिर में जाकर भगवान् भूतनाथ की पूजा की, और फिर राह देखने लगी कि कोई अतिथि-अभ्यागत ही आ जाय, लेकिन कोई न आया ।

"अच्छा बाबा ! मैं अपने घर जाती हूँ । कोई अभ्यागत इधर आ निकले तो मेरे घर भेज देना, मैं घर पर बैठी इन्तजार करती हूँ ।"

यशोदा घर गई, रसोई में लगी, रसोई तैयार भी हो गई; लेकिन कोई अभ्यागत नहीं आया।

यशोदा फिर बाहर निकली। गांव के दरवाजे तक गई। पूछ-ताछ की। भूतनाथ में पता चलाया। लेकिन कहीं कोई न मिला।

"मां! रोज-एक-न-एक साधु मिल ही जाता है; और आज जब तुमने खास रसोई बनाई है, एक भी साधु का पता नहीं! अजब बात है!"

"बांझों के भाग में और क्या होगा, बहन!"

"मां यह तुम क्या कहती हो? यह भला भगवान् अब मुझे बच्चे न दे तो अच्छा हो। बाबाजी का मांगकर लाया हुआ आटा भी अब तो पूरा नहीं पड़ता। हे भगवान्! अब तो मां के घर पलना बंधने दे!"

"वह, उस तरफ से कौन आ रहा है?"

दूर, एक अन्धा चला आ रहा था। सिर पर एक चिथड़ा लपेटे था, पैरों में घुटनों तक धल लगी थी, पिंडलियों पर खरोंचें थीं, हाथ में लाठी। लाठी टेकता-टेकता अन्धा चला आ रहा था।

"अमृत बहू! यह कोई साधु मालूम पड़ते हैं; जरा पूछो तो, मेरे घर जीमने चलेंगे?"

"महाराज! यशोदा मां आपको भिक्षा के लिए बुलाने आई है।"

"मैया, तुम्हारा कल्याण हो! चलो, मैं यह आया।" आगे यशोदा, पीछे सूरदास।

यशोदा ने सूरदास के हाथ-पैर धुलाये, उनको पटे पर बैठाया, और चांदी की थाली और कटोरियों में भोजन परोसा।

"महाराज! अब आप शुरू कीजिये।"

"अच्छा, तो मैं बैठूं?"

और सूरदास ने खाना शुरू किया। सूरदास तो सात-आठ दिन का भूखा था। बैसाख-जेठ की धूप में तपी जमीन के अन्दर पानी जिस तरह पैठ जाता है, उसी तरह उस रसहीन शरीर में खीर जाने लगी। एक कटोरा, दो कटोरे, चार कटोरे। यशोदा भी पुलकित भाव से हंस-हंस कर परोसने लगी।

"बस, अब तृप्त हो गये मैया! भगवान् तुम्हें सात बच्चे दें!" सूरदास के मुंह से बात निकल पड़ी।

"महाराज! आप महान् हैं। लेकिन जहां एक का ठिकाना नहीं, वहां सात का क्या भरोसा?"

"मैया! आज मैं खूब तृप्त हुआ हूं। भगवान् तुम्हें सात बच्चे दें!"

ऐसे तो न जाने कितने आशीर्वाद यशोदा को मिल चुके थे; उनमें एक और जुड़ गया!

सूरदास तो खा-पीकर और तृप्त होकर चले गये और यशोदा अपने काम से लगी।

किन्तु भगवान् ने यशोदा को अच्छे दिन दिखाये; उसके घर पुत्र पैदा हुआ। पुत्र-जन्म की खुशी में उसने भूतनाथ के लिए चांदी की जलहरी बनवाई, एक दिन सारे गांव के चूल्हे बन्द रखवाये और पाठशाला में शक्कर बंटवाई।

कोई तीन साल बाद दूसरा फल, फिर दो साल बाद तीसरा फल, यों एक-एक करके यशोदा के सात बच्चे हुए।

फिर एक बार नारद मुनि उसी गांव में आ पहुंचे, और भूतनाथ ही में ठहरे। सबेरे कोई दस बजे यशोदा दर्शनों को आई। आगे-आगे एक बालक हाथ में पूजा की थाली लिए ठाठ से चल रहा था, एक नन्ही-सी बालिका के हाथ में चांदी की छोटी कलसी थी, कमर पर लिया हुआ एक बालक छोटे

बैठा-बैठा मां की पीठ पर हाथ चला रहा था, और चौथा मां की अंगुली थामे उसके साथ चल रहा था। दल ने भूतनाथ के मन्दिर में प्रवेश किया। नारद मुनि ओसारे में बैठे तम्बूरा बजा रहे थे। उनकी दृष्टि इस दल पर पड़ी। उन्होंने यशोदा को पहचाना। यशोदा ने मुनि को पहचाना।

नारद ने पूछा—"बहन! ये बच्चे किसके हैं?"

"महाराज! भगवान् की माया है। आप जैसों के आशीर्वाद फले हैं।"

नारद तो स्तब्ध रह गये! "इस......यशोदा के ये बच्चे!"

"महाराज! अब आज तो आप भिक्षा लेने पधारेंगे न? उस दिन तो मुझ बांझ के घर का अन्न आपने खाया नहीं था।" यशोदा ने नम्रतापूर्वक निमंत्रण दिया।

लेकिन सुनता कौन है?

"इस यशोदा के ये बच्चे! जिसके नसीब में सात-सात जन्म तक एक भी सन्तान न थी, उसके ये बच्चे? या तो भगवान् विष्णु झूठे हैं, या यह जो मैं अपनी आंखों देख रहा हूं, सो झूठा है। चलूं, भगवान् से ही जाकर पूछूं।"

नारद तो समाधि में लीन हो गये, और लाल-पीले होते हुए भगवान् के पास पहुंचे।

"क्यों नारद?"

"भगवन्.......".

"नारद! इस समय मैं बहुत ही काम में हूं।"

"भगवन्! मुझे केवल एक छोटी सी बात पूछनी है।"

"अच्छी बात है; लेकिन पहले तुम मेरा एक काम कर दो। फिर मैं निश्चिन्त होकर तुम्हारी बात का जवाब दूंगा।"

"क्या आज्ञा है, महाराज?"

"मैंने एक ऐसा यज्ञ शुरू किया है, जिसमें एक हजार आदमियों के सिर की जरूरत है। नौ सौ निन्यानवे तो इकट्ठा हो चुके हैं, एक हजारवां कम पड़ता है। सो तुम जरा जल्दी ही ले आओ न?" भगवान् ने कहा।

"महाराज! क्यों कोई अपना सिर देगा?"

तुम तो सिर्फ इतना कहना—"भगवान् के नाम पर कोई अपना सिर दो; और जो कोई दे सो लेकर चले आना।"

"जैसी आज्ञा!"

नारद मुनि तो भगवान् के लिए सिर लेने निकले। नारद चौदहों लोकों में आ-जा सकते थे; इसलिए हरएक लोक में जा-जाकर उन्होंने भगवान् के नाम पर सिर मांगना शुरू किया। वे बड़े-बड़े जंगलों में घूमे, बड़े-बड़े देव-मन्दिरों के चक्कर काटे, बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों से मिले, धार्मिक लोगों की सभाओं में जाकर उन्होंने अपनी मांग रखी, जहां देव-लीलाओं की कथायें पढ़ी जाती थीं, वहां भी वे पहुंचे, जहां भगवान् के पारायण होते थे, वहां भी गये, बारह-बारह वर्षों से जहां यज्ञ हो रहे थे वहां भी सवाल डाला; लेकिन कहीं से सिर न मिला।

"मेरा यह त्रिलोक का नाम भी आखिर पानी ही-पानी हुआ जाता है न? मैं तो भटक-भटक कर थक गया, पर सिर नहीं मिला। चलूं, अब इस जंगल में आवाज लगाता हुआ भगवान् के पास पहुंच जाऊं।" नारद ने सोचा।

"है कोई, जो भगवान् के नाम पर सिर दे?" नारद ने जोर से पुकारना शुरू किया!

दूर, एक आम के पेड़ तले एक सूरदास बैठा हुआ था।

पहचाना इस सूरदास को? यही हमारी [illegible] सूरदास है, जो उस दिन मन्दिर के द्वार [illegible] था।

सूरदास ने नारद की पुकार सुनी और पूछा—"भाई, किसके लिए सिर चाहते हो ?"

"कह तो रहा हूं कि मेरे भगवान् के लिए।"

"अगर भगवान् के लिए चाहिए तो लो, इसे ले जाओ।"

जितनी आसानी के साथ बेल पर से खरबूजा काट लेते हैं, नारद ने उतनी ही आसानी से सूरदास का सिर काट लिया और तुरन्त ही भगवान् के पास पहुंचे।

"महाराज !"

"अच्छा नारद है ! आ गये ? सिर मिला ?"

"पहले तो कोई आशा न रही थी। आशा रखकर जहां-जहां गया, वहां निराशा ही पल्ले पड़ी; किन्तु अन्त में एक सूरदास मिला, उसने सिर दिया।"

"अच्छा हुआ।"

"किन्तु महाराज ! अब मेरी बात का जवाब दीजिये न ?" नारद ने जरा तमक कर कहा।

"बोलो, क्या चाहते हो ?"

"महाराज! आपने मुझसे कहा था न कि यशोदा के नसीब में सात-सात जन्म तक कोई बालक नहीं है।"

"हां, कहा था; ठीक तो है।"

"तो फिर उसके चार बच्चे तो मैंने आज अपनी सगी आंखों देखे !"

"हां, सो भी ठीक है।"

"क्या ठीक है ? सात जन्म तक बच्चे न होंगे, यह भी ठीक, और मैं चार बच्चों को आज अपनी आंखों देख आया, यह भी ठीक ?"

"नारद !-उसके नसीब में सात जन्म तक बच्चे थे ही नहीं।"

"सच है कि यशोदा के सात जन्म तक कोई सन्तान नहीं होनेवाली थी। लेकिन जो मेरे लिए एक क्षण को भी विचार किये बिना अपना सिर उतार कर दे दे, उसके लिए मुझे सब कुछ करना चाहिए ऐसा मेरा विरद है। ऐसे भक्तों के वचन तो चित्रगुप्त के लिखे जन्म-जन्मान्तर के जमा-उधार को भी छेक सकते हैं! और खुद मुझको भी वेच सकते हैं! आज तो तुम इन सूरदास का सिर लाये हो, लेकिन तुम नहीं जानते कि ऐसे भक्तों की चरणरज से पवित्र होने के लिए तो मैं निरन्तर उनके पीछे-पीछे भटकता रहता हूं।"

नारद गहरे आत्मध्यान में लीन हो गये। अपनी जिस भक्ति का उन्हें गर्व था, वह आज खर्व हो गया। बोले—"महाराज! क्षमा कीजिये, मैं आपको समझ नहीं पाया।"

नारद की समाधि टूटी। उन्होंने यशोदा के बालकोंको आशीर्वाद दिये, उसके घर भिक्षा ग्रहण की और फिर मानव-समाज की पीड़ाओं का पता लगाने के अपने सनातन काम पर वे चल पड़े।

गंगावतरण

सगर राजा के दो रानियाँ थीं; एक से असमंजस और दूसरी से साठ हजार पुत्र हुए।

असमंजस बचपन से ही उच्छृंखल और दुष्ट था। सारा नगर उसके नाम से चिल्लाता था। कोई घर ऐसा न था, जिसमें उसे शिकायत न हो। राजकुमार असमंजस सारे नगर के लड़कों से लड़ता-झगड़ता, किसी को काटता, किसी को औंधे सिर लटकाता, किसी की गरदन पकड़कर घूंसे लगाता और कुछ को ठेठ नदी तक घसीटकर ले जाता और पानी में डुबो देता। राजधानी में कोई दिन ऐसा न बीतता, जब लड़कों के खून न निकलता हो; किसी की आँख में चोट लगती, किसी का सिर फूटता, दूसरों के बदन छिल जाते और किसी-किसी के दम तो होठों-होठों रुक जाता! लोग त्राहि-त्राहि पुकार उठे, किन्तु राजा का लड़का ठहरा, कहे कौन?

कई दिनों तक यही सिलसिला चलता रहा। आखिर एक दिन लोग राजा के पास शिकायत लेकर पहुँचे—"महाराज! आप चोरों और डाकुओं से हमारी रक्षा करते हैं, किन्तु अपने पुत्र से आप हमें नहीं बचाते। राजकुमार हमारे बाल-बच्चों को बहुत ही सताते हैं, यहीं नहीं, बल्कि नदी-नालों में भी डाल देते हैं।"

लोगों के ये वचन सुनकर सगर राजा को बहुत दुःख हुआ, और बड़े खिन्न व उदास भाव से उन्होंने कहा—"मेरा पुत्र ही मेरी प्रजा को सताता रहता है! मैं राजा हूं; मैं तो प्रजा के जान-माल की रक्षा करने वाला हूं। यदि मेरी प्रजा को मेरी ओर से ही तकलीफ पहुंचती है, तो फिर मैं राजा कैसा? मैं ही बड़े-से-बड़ा लुटेरा हूं। आप जाइये, कुमार असमंजस को मैं इसी समय राज्य की सीमा से बाहर निकाले देता हूं।"

असमंजस को देश निकाला दिया गया।

एक बार सगर राजा ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया। अश्वमेध यज्ञ अर्थात् घोड़े को होमने का यज्ञ। इस यज्ञ में जिस घोड़े को होमा जाता है, वह अश्व-शास्त्र की दृष्टि से किसी भी प्रकार के दोष या ऐबवाला न होना चाहिए; घोड़े की आंख में, उसकी पूंछ में, उसके मुंह में, उसकी चाल में और उसकी पीठ में किसी तरह का कोई दूषण न होना चाहिए। यह घोड़ा पृथ्वी पर खुला छोड़ दिया जाता है, और इसकी रक्षा के लिए एक हजार सैनिक बराबर इसके पीछे-पीछे घूमते रहते हैं। यह घोड़ा जिस राजा की हद में जाता है, वह इसे खुला घूमने दे, और बांध न ले तो समझना चाहिए कि उस राजा ने यज्ञ करनेवाले राजा को बड़ा मान लिया है। लेकिन यदि कोई राजा इस तरह अपनी हद में आये हुए घोड़े को खुला न रहने दे, बल्कि बांध ले, तो समझना चाहिए कि वह स्वयं यज्ञ करनेवाले राजा को अपने से बड़ा नहीं मानता। ऐसा होने पर घोड़े के साथ घूमने वाले हजार सैनिक अपने घोड़े को छुड़ाने के लिए उस राजा से लड़ाई छेड़ते हैं। लड़ाई के बाद अगर घोड़ा खुल गया, यानी सैनिक उसे छुड़ा सके, तो वह फिर से आगे चलना शुरू कर देता है, नहीं तो बात वहीं अटक जाती है। इस तरह जब यज्ञ का घोड़ा सभी राजाओं के प्रदेश में स्वतंत्र भाव से घूमता-फिरता वापस अपने राजा के पास आ जाता है, तभी यज्ञ शुरू होता है, अन्यथा

नहीं। जो राजा ऐसे सौ अश्वमेध यज्ञ करता, उसे इन्द्र का सिंहासन मिलता।

सगर राजा ने अश्वमेध का घोड़ा छोड़ा, और उसकी रक्षा के लिए अपने साठ हजार पुत्रों को घोड़े के साथ भेजा। एक बार घोड़ा हरे-भरे खेतों में इधर-उधर चर रहा था और सगर के पुत्र जहां-तहां भटक रहे थे। इतने में घोड़ा एकाएक गुप्त हो गया। कुछ देर बाद राजकुमारों ने देखा तो घोड़ा गायब! सब सोच में पड़ गये। इधर-उधर दौड़े। खोजा-ढूंढा। मगर पता न लगा। आखिर सगर के पास जाकर बोले—"पिता जी! कोई हमारे घोड़े को उड़ा ले गया है। कौन ले गया है, हम नहीं जानते। कहिये अब हम क्या करें?"

सगर को क्रोध चढ़ा। बोले—"तुम क्षत्रियपुत्र हो। तुम्हें यह कहते शरम नहीं आती कि घोड़ा कौन ले गया, सो तुम नहीं जानते? क्षत्रिय बच्चा तो आठों पहर जागता ही रहता है। कोई उसकी आंख में धूल झोंककर छोटी-सी सुई भी ले जाय, तो थुड़ी है उसकी जिन्दगी पर! जाओ घोड़े का पता लगाकर ही वापस आना!"

राजकुमार फिर चल पड़े। जहां घोड़ा चरने के लिए छोड़ा था, वहां फिर देखा-भाला; लेकिन कोई पता नहीं चला। उसके बाद भी राजकुमारों ने बड़े-बड़े पहाड़ लांघे, छोटी-मोटी नदियों और नालों को छान डाला, बड़े-बड़े जंगलों में भटके, सारी पृथ्वी की गुफाओं को देख डाला, राजा-महाराजाओं के महलों में जाकर देखा, लेकिन घोड़े का कहीं पता न चला! थके-मांदे वे सब फिर सगर के पास आये और बोले—"पिताजी! हमने नदी, नाले, पहाड़, जंगल, गुफा सभी छान डाले किन्तु घोड़ा कहीं न मिला। हमारी तो समझ में नहीं आता कि वह कहां चला गया है।"

सगर की आंखों में खून उतर आया। वह बोले—"जाओ, तुम चले जाओ! जबतक घोड़े का पता न लगे, मुझे अपना मुंह न दिखाना।"

राजकुमार सब लौट पड़े। चलते-चलते एक कुमार के मन में अचानक यह विचार आया—"घोड़े को कोई पाताल में तो नहीं ले गया होगा?" साठों हजार भाइयों ने इस विचार को पकड़ लिया, और जिस स्थान से घोड़ा लुप्त हुआ था, वहीं खोदने लगे। सगर राजा के साठ हजार पुत्र, उनके वे भयंकर मुंह और उनकी वे क्रूर करतूतें! जब वे खोदने लगे, तो धरती डोल उठी, जंगल कांप उठे, नदी-नाले सूखने लगे, पहाड़ डगमगाने लगे, इन्द्र का इन्द्रासन भी क्षण-भर के लिए डगमगा उठा। महान् उल्कापात-सा मच गया।

खोदते-खोदते वे ठेठ पाताल तक पहुंचे। वहां उन्हें एक मनोहर अरण्य मिला। अरण्य के एक बड़े वृक्ष से सगर का घोड़ा बंधा हुआ था और वहां से थोड़ी दूर एक रत्नशिला पर कपिल मुनि समाधि लगाये बैठे थे।

"अरे यह रहा हमारा घोड़ा!"

"अरे हां, हमारा ही घोड़ा है; बिलकुल हमारा।"

"लेकिन इसे यहां बांधा किसने?"

"दीखता नहीं? अंधे हो? वह जो चबूतरे पर बैठा है, उसीने।"

"अरे, यह तो कोई ऋषि है, ऋषि!"

"क्या कहने है, ऋषि के! यों आंख मूंद कर और तनकर बैठने से क्या कोई ऋषि बन जाता है?"

इस तरह चर्चा चल ही रही थी कि इतने में सारा दल कपिल मुनि की रत्नशिला के पास जा पहुंचा।

"वाह रे मेरे ऋषि!" कहकर एक ने कपिल मुनि की दाढ़ी पकड़ी और हिलाई।

"अरे तुम्हारी आवाज से इनकी तपस्या में बाधा पहुँचेगी।" कहकर दूसरे ने कपिल के कान में लकड़ी ठूंस दी।

"देखें, इसे ठीक से प्राणायाम करना आता है या नहीं?" तीसरे ने नथनों में छोटी-छोटी टहनियां घुसेड़ीं।

"वाह रे तेरा आसन!" कह कर चौथा उनकी गोद में बैठ गया।

"भाइयो चुप रहो, हल्ला मत करो! इसकी आत्मा ब्रह्मरंध्र में लीन हो गई है।" कह कर किसी ने सिर में 'टकोर' मारी।

इस बीच हल्ले गुल्ले के कारण कपिल मुनि की समाधि टूट गई; उनके चित्त का व्युत्थान हुआ और धीमे-धीमे आंख पर पड़ी हुई पलकें उघड़ने लगीं।

"वाह रे पट्ठे! एक तो घोड़ा चुराकर ले आया, और फिर ध्यान लगाकर बैठा है!" किसी एक ने कहा।

दूसरे ने मुनि का माथा पकड़कर हिलाना शुरू किया और कहा—"नहीं, नहीं; इस बेचारे को तो मालूम तक नहीं। यह तो भोला-भाला ऋषि है। यह क्या जाने कि हमारा घोड़ा कौन-सा है? इनके हाथ घोड़े को खींचकर ले आये होंगे, और हाथों ने ही उसे यहां लाकर बांध दिया होगा। कसूर तो सब इसके हाथ का है, इसका नहीं। क्यों, मुनिराज ठीक है न?"

कपिल की पलकें ऊपर को उठीं। ललाट में नसें तन गईं और देखने लगे। उनकी छेड़-छाड़ और हंसी-मजाक तो चल ही रहा था। इतने में कपिल मुनि की आंखों से अग्नि प्रज्वलित हुई, और उसकी लपटों ने साठ हजार सगर-पुत्रों को घेर लिया। फिर तो पूछना ही क्या था? एक क्षण पहले जहां मानवों के दल-के-दल खड़े थे, वहां राख की ढेरियां लग गईं और

साठ हजार राख की ढेरियों से वह श्मशान भर गया! कपिल की पलकें फिर आंखों पर ढल पड़ीं, और अरण्य में पुनः शान्ति छा गई।

सगर राजा अपने पुत्रों की और घोड़े की राह देखते-देखते थक गये। कुछ दिन बाद सगर को मालूम हुआ कि पुत्र तो सब जलकर भस्म हो गये हैं।

"अब क्या किया जाय? असमंजस को देश-निकाला दे रक्खा है, और साठ हजार पुत्रों की यह गति हो चुकी है। यज्ञ न होगा, तो मेरा संकल्प अधूरा रहेगा और मेरी अवगति होगी।"

असमंजस के अंशुमान नामक एक पुत्र था। सगर उसे अपने पास ही रखते थे। अंशुमान को अपने समीप बुलाकर सगर ने कहा—"बेटा! तुम्हारे पिता को मैंने निर्वासित कर रक्खा है और तुम्हारे साठ हजार काका कपिल के क्रोध से जलकर राख हो चुके हैं। कपिल के पास यज्ञ का घोड़ा है। तुम उसे ले आओ, तो मेरा यज्ञ हो सके और अपना संकल्प पूरा करके मैं स्वर्ग की यात्रा कर सकूं।"

"जैसी आपकी आज्ञा!" कहकर अंशुमान चल पड़ा, और उसके काकाओं ने जो मार्ग खोद रक्खा था, उस मार्ग से वह कपिल मुनि के आश्रम में पहुंचा। राख की साठ हजार ढेरियों से घिरे हुए आश्रम में कपिल मुनि को तपस्या करते देख अंशुमान वहां पहुंचा और उन्हें प्रणाम करके बैठ गया।

बड़ी देर बाद कपिल ने पूछा—"बेटा! कैसे आना हुआ?"

"महाराज! एक प्रार्थना करने आया हूं।"

"क्या प्रार्थना है?"

"इस पेड़ में यह जो घोड़ा बंधा है, सो कृपाकर मुझे दे दीजिये।"

"तुम इस घोड़े को मरूर ले जाओ। जानते हो, इसे यहां कौन बांध गया था ?"

"नहीं महाराज !"

"सुनो ! तुम्हारे दादा ने निन्यानवें यज्ञ तो पूरे किये हैं, और यह उनका सौवां अश्वमेध है ! यदि उनके भी अश्वमेध पूरे हो जावें तो उन्हें इन्द्रासन मिले और इन्द्र को स्वयं हटना पड़े, इस डर से इन्द्र ही ने तुम्हारा यह घोड़ा चुराया है और इसे यहां इस आश्रम में बांध दिया है।" कपिल ने कहा।

"स्वयं देवों में भी इतनी ईर्ष्या रहती है ? यदि ऐसा है तो फिर इन्द्र बना ही क्यों जाय ?" अंशुमान बोला।

"सच है। इसीलिए ऋषि स्वर्ग के लिए यत्न नहीं करते।" कपिल ने कहा।

"महाराज ! मेरे इन काकाओं को आपने जलाकर भस्म कर डाला है। क्या इनके उद्धार का कोई मार्ग नहीं ?" अंशुमान ने हाथ जोड़कर पूछा।

"देखो, तुम्हारे ये काका अपने पाप से इस दशा को प्राप्त हुए हैं। इनके घोर कर्मों की बात तुमसे छिपी नहीं। फिर पर इन्होंने समाधि के समय मुझको सताया, इससे मैं अपने क्रोध पर काबू न रख सका।" कपिल ने कहा।

"वे थे तो इसी दशा के योग्य। किन्तु आपके समान मुनि के दर्शन करके भी मुझे अपने काकाओं के उद्धार का मार्ग न मिले, तो आपके दर्शन वृथा हों। अतएव कृपालु ! इनके उद्धार का कोई मार्ग सुझाइये।" अंशुमान ने नम्रतापूर्वक कहा।

कपिल ने क्षणार्द्ध के लिए अपने नेत्र मूंद लिये और फिर कहे निम्नलिखित शब्दों से बोले—"बेटा ! इन काकाओं के उद्धार का एक ही मार्ग है।

गंगाजी स्वर्ग से उतर कर अपने जल से इस राख को पवित्र करें, तो तेरे काकाओं का उद्धार हो। दूसरा कोई मार्ग नहीं।"

"कृपा हुई, महाराज!" अंशुमान ने उत्तर दिया। "अब हमारा काम है कि हम गंगाजी को पृथ्वी पर लायें।"

"वेटा, इसे तुम कोई छोटा-मोटा काम न समझना। यह एक आदमी के जीवन का भी काम नहीं। इसके लिए तो पीढ़ी दर पीढ़ी प्रयत्न करना होगा।"

"महाराज! आप हमें यह आशीर्वाद दीजिये कि हम इस तरह का प्रयत्न कर सकें।" अंशुमान बोला और मुनि के आशीर्वाद सहित घोड़े को लेकर वापस सगर के पास आया।

इसके बाद अंशुमान ने गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए कठोर से कठोर तपश्चर्या शुरु की, और तपस्या करते-करते ही उसका देहान्त हो गया। अंशुमान के बाद उसका पुत्र दिलीप गादी पर वैठा। किन्तु दिलीप की गादी भोग-विलास के लिए थोड़े ही थी? उस गादी पर बैठने वालों को तो काकाओं के उद्धार के लिए तप का उत्तराधिकार मिला था, और दिलीप ने उसे अन्तःकरणपूर्वक स्वीकार किया था। दिलीप ने भी गंगाजी को लाने के लिए घोर तप किया, किन्तु तप का परिणाम निकलने से पहले वह भी चल बसा।

दिलीप के अवसान के बाद गादी का और तप का उत्तराधिकार उसके पुत्र भगीरथ को मिला। भगीरथ ने सगर के पराक्रमों की कथायें सुनी थीं; भगीरथ ने असमंजस की और साठ हज़ार काकाओं की दुर्दशा के हाल भी सुने थे; भगीरथ ने अपने कुल के कलंक की बात भी सुनी थी; अपने कुल के इस कलंक को धो डालने के लिए भगीरथ तैयार हो गया। भगीरथ ने उग्र तपश्चर्या आरम्भ की। गंगाजी उसकी तपस्या से प्रसन्न

शंकर को भी थोड़ा सोचना पड़ जायगा। लेकिन शंकर यदि चाहें, तो वे मुझे झेल सकते हैं। इसलिए तू शंकर के पास जा।" गंगा ने कहा और वह अन्तर्द्धान हो गई।

भगीरथ शंकर के पास गया और तप करने लगा। शंकर ने प्रसन्न होकर वर मांगने को कहा। भगीरथ ने मांगा—"देवाधिदेव! मेरे साठ सहस्र काका कपिल मुनि के क्रोध से जलकर भस्म हो गये हैं। उनके उद्धार के लिए हम आज तीन पीढ़ी से तप कर रहे हैं। अबकी गंगादेवी हम पर प्रसन्न हुई हैं, और अपने अमृत से मेरे काकाओं का उद्धार करने को तैयार हैं।"

"तो फिर तुम क्या मांगना चाहते हो?" भगवान् शंकर बोले।

"प्रभो! गंगाजी पृथ्वी पर आने के लिए तो तैयार ही हैं, किन्तु उनका भार वहन करने को कोई तैयार नहीं।" भगीरथ ने कहा।

"गंगा इतनी भारी है?"

"माताजी तो कहती थीं कि यदि वे सीधी पृथ्वी पर पड़ें, तो पृथ्वी रसातल को चली जाय।"

"बात तो सच है; अकेली पृथ्वी में इतनी शक्ति नहीं।"

"इसीलिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप गंगामैया का भार वहन करना स्वीकार करें। तभी वह पतित-पावनी देवी पृथ्वी पर पधार सकेंगी और तभी मेरे पुरखों का उद्धार हो सकेगा।"

"बेटा भगीरथ! तेरी तपश्चर्या को देखते हुए तो मैं तू जो कहे, करने को तैयार हूं, और गंगा को भी झेल लूंगा। किन्तु. . . . ." शंकर जरा रुके।

भगीरथ कह उठा—"सो तो माता जी भी कहती थीं कि शंकर को भी सोचना तो पड़ेगा ही!"

फिर तो आगे-आगे भगीरथ और पीछे गंगाजी। हरिद्वार के पास से होकर अटकती-भटकती गंगा की वह धारा कपिल के आश्रम के निकट पहुंची और भगीरथ के साठ हजार काकाओं की भस्म को भिगोकर पवित्र करती हुई आगे बढ़ गई, और अन्त में समुद्र से जा मिली। इस प्रकार सगर के साठ हजार पुत्र स्वर्ग सिधारे।

भगीरथ की लाई हुई इन भागीरथी का जल आज भी उसी तरह प्रवाहित है, और वैसा ही पतित-पावन है।

: १६ :

वीरभद्र

उमा दक्ष प्रजापति की पुत्री थी। प्रजापति दक्ष की पुत्रियों का पार न था। उनके जमाइयों को देखो, तो बड़े-बड़े दिग्गज लोग! दक्ष की सत्ताईस लड़कियां तो अकेले चन्द्र से ब्याही गई थीं; तेरह कश्यप को दी गई थीं और दो कृशाश्व को। ऐसे बड़े-बड़े जमाइयों के ससुर बनकर दक्ष बहुत ही प्रतिष्ठित बन गये थे। भगवान् शंकर ही एक ऐसे जमाई थे, जो दक्ष को दुश्मन-से लगते थे—बुरी तरह खटकते थे। दक्ष बिल्कुल नहीं चाहते थे कि उनकी प्यारी उमा शंकर को अपना पति बनावे। रूप में शंकर देखने में अशोभन, स्वभाव के अटपटे और खान-पान से भांग-धतूरे के शौकीन! दक्ष के समान प्रजापति की कन्या ऐसे शंकर से शादी करे तो दक्ष दुनिया को क्या मुंह दिखावे? किन्तु उमा के दृढ़ निश्चय के सामने दक्ष हार मान गये। उमा की यह अटल प्रतिज्ञा थी कि 'ब्याह तो शंकर से ही करूंगी', और अन्त में उन्होंने शंकर से ही ब्याह किया।

लेकिन ब्याह एक बार हुआ, सो हुआ। विवाह के बाद लड़कियां ससुराल जाती हैं, ससुराल में धीरे-धीरे हिलने-मिलने लगती हैं, वहां के जीवन के समरस होती हैं, बाल-बच्चे होते हैं, घर में रम जाती हैं, फिर भी मायका तो आखिर मायका ही है। पिता के घर को भुलाया जा सकता है? दुनिया में दूसरा कोई पीहर बन सकता है? किन्तु उमा के भाग्य में मायके का सुख,

पीहर का आनन्द, नहीं बदा था। उन्होंने तो दक्ष का महल एक बार जो छोड़ा सो छोड़ा। फिर वे थीं, उनका कैलास था, और थे कैलासपति! न कहीं जाना, न आना। दक्ष प्रजापति के घर उनकी दूसरी पुत्रियां आतीं और रहतीं, किन्तु उमा तो शंकर के साथ फेरे फिर कर जो गई, सो फिर कभी उन्होंने दक्ष की दहलीज नहीं देखी!

आज दक्ष के घर यज्ञ शुरू हुआ था। देश-विदेश से ब्राह्मण बुलाये गये थे; स्वर्ग से देव आये थे; दल-के-दल यक्ष और किन्नर आ पहुंचे थे; नदों, नदियों और सरोवरों का पानी मंगाया गया था; देश-विदेश के राजा आये थे, दूर-पास के देशों से दर्शनार्थियों की भीड़ आ पहुंची थी; बेटियां आईं, जमाई आये, समधी आये, समधिनें आईं। न आई एक उमा। हजारों लोग कैलाश के पास से जाते थे, और जाते-जाते पूछते थे—"क्यों बहन! अभी तक यहीं हो? पिता के घर दो दिन पहले जाना चाहिए न?"

एक ने आकर कहा—"बहन! पिता के घर से कोई बुलावे की राह देखता है?"

दूसरी आई और बोली—"घर तो रोज की चीज है न? पीहर कहीं रोज-रोज जाया जाता है?"

तीसरी आई और कहने लगी—"उमा! क्या तुम्हें अपनी सगी मां की भी याद नहीं आती? चलो, मेरे साथ चलो।"

उमा किसी से कुछ कहती न थीं; उन्होंने अपना मुंह सी लिया था, किन्तु मन की विकलता तो बढ़ती ही जाती थी।

यज्ञ के दिन समीप आने लगे। एक दिन रात के समय शंकर की शय्या के पास बैठे-बैठे उमा कहने लगी—"महाराज! मुझे यज्ञ में जाने की अनुमति दीजिये।"

"देवी! बिना बुलाये?" शंकर ने कहा।

उमा दक्ष के राज्य में पहुंचीं, उमा दक्ष की राजधानी में आईं, उमा ने दक्ष के महलों में प्रवेश किया, उमा दक्ष प्रजापति की यज्ञ-भूमि में उपस्थित हुई। दक्ष अपनी स्त्री के साथ एक बड़ी चौकी पर बैठे होम कर रहे थे। घी की आहुतियों से अग्नि प्रज्वलित हो रही थी; उमा अपने माता-पिता के ठीक सामने जाकर खड़ी हो गई। उमा को देखते ही दक्ष ने मुंह फेर लिया। ओंठ चबा लिये, किन्तु मां की आंखें हंस पड़ीं, "कौन, बेटी उमा! आओ, इधर आओ, बिटिया!" मां ने हाथ से संकेत कर के उमा को अपने पास बुलाया।

दक्ष से यह देखा न गया। वह तुरन्त ही दहाड़ उठे।

"इसे यहां किसने बुलाया था? यहां इसका क्या काम है? कह दो इससे कि वापस चली जाय। मालूम होता है, यह इस यज्ञ को पूरा होने देना नहीं चाहती। वह जोगी तो नहीं आया है न?"

एक बहन मां के पास दौड़ती हुई आई और बोली—"मां, मां, जीजी आई।"

दक्ष और भी भिन्ना उठे। आहुति डालना छोड़ दिया और गरजे—"बड़ी जीजी वाली आई है। तुम्हें जीजी-दीदी करना हो, तो तुम भी अपना रास्ता पकड़ो। किसने बुलाया था इस पापिनी को? लगता है सुख से यज्ञ करने देना नहीं चाहती।"

"पिताजी!" उमा ने धीमे स्वर से पुकारा।

दक्ष ज्यों के त्यों बैठे रहे।

"पिताजी!"

दक्ष ने आंखें मूंद लीं।

"पिताजी!"

"यह बिटिया तुम्हें पुकार रही है न?" उमा की मां ने कहा।

"मैं इसका बाप नहीं। मुझे इससे कोई काम नहीं। जहां से आई है वहीं वापस चली जाय।"

"किन्तु बिटिया को ऐसा कैसे कह सकते हैं?"

"तो तुम भी इसके साथ चली जाओ। और कैलाश में जाकर बसो। वहां मां-बेटी दोनो की अच्छी पटेगी।"

"पिताजी!"

"पिताजी!"

"पिताजी!" तीसरी बार उमा ने कहा।

दक्ष से न रहा गया—"पिताजी, पिताजी, क्यो चिल्ला रही है? बाप के घर आये बिना मन न माने, तो मर जाना अच्छा है। आज कौन मुंह लेकर तू यहां आई है?"

"मेरी बिटिया से यह सब न कहो! तुम अपना यज्ञ करो; मैं इसे लेकर अन्दर जाती हूं।"

"कहां ले जाती हो? खबरदार! एक बार मर जाय, तो बला टले।"

उमा के रोंगटे खड़े हो गये, उसके अन्तर में ज्वाला धधक उठी। उसे हिमालय की याद आई, कैलाश की याद आई, अपने प्यारे शंकर की याद आई। पिता के वचन असह्य हो उठे।

"पिताजी!"

किन्तु जवाब कौन दे?

"पिताजी! सुनिये! आपकी प्यारी उमा के ये अन्तिम शब्द हैं। आप की आज्ञा है, इसलिए मैं तो यह चली। मैंने आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ा। आपकी आज्ञा का अनादर नहीं किया; ऐसा कोई आचरण नहीं किया जिससे आपके कुल को बट्टा लगे। केवल मैं हृदय से शंकर को चाहती थी,

इसलिए मैंने उनसे विवाह किया। और आज जब जीवन के किनारे खड़ी हूं तब भी यही मनाती और मानती हूं कि जन्म-जन्मातर में शंकर ही मुझे मिलें। पिताजी ! मैं तो लड़कियों के ऐसे व्यवहार पर आपत्ति करने वाले निरंकुश पिताओं पर परमात्मा का शाप पड़ता देख रही हूं। पिताजी ! यह दीन पुत्री आपको अन्तिम प्रणाम करती है। प्यारी मां ! तुम विकल न होना; मेरी दूसरी बहनों को देखकर मन को दिलासा देना। भगवान् तुम्हारा सबका कल्याण करे।"

देखते-देखते उमा के दाहिने पैर के अंगूठे से अग्नि प्रकट हुई, और सती सुलगने लगी। यज्ञ थम गया। दक्ष सुलगती हुई उमा की ओर देखा किये; उमा की मां स्तब्ध रह गई; ब्राह्मण सब त्रस्त हो उठे और एक क्षण में जहां पहले स्त्री की देह खड़ी थी, वहां राख की ढेरी भर रह गई।

दक्ष ने गला साफ करते हुए कहा—"यज्ञ का काम आगे चलने दो।"

यज्ञ के आचार्य बोले—"महाराज ! आपके चित्त को क्षोभ पहुंचा हो, तो शेष आहुतियां कल दे देंगे। अभी आप पधारिये।"

"इसकी कोई आवश्यकता नहीं। लड़की की मां को जाना हो, तो वह जाये। हमें अपना यज्ञ चलाना ही है। वह गई तो भले गई—एक कम हुई। क्या इस तरह अंगूठे से अग्नि प्रकट होते देख दक्ष डर जायगा ? मेरा क्या बिगड़ा, उलटे उस जोगी का घर उजड़ा ?" दक्ष का वास्तविक रूप प्रकट हो गया।

शंकर ने उमा के साथ जिन दो गणों को भेजा था, वे सीधे शंकर के पास पहुंचे और उन्हें सारे समाचार सुनाये।

शंकर ने कहा—"ये सब समाचार मुझे एक बार फिर सुनाओ।"

गणों ने सभी समाचार दुबारा कह सुनाये।

शंकर फिर बोले—"अभी एक बार और मुझे ये समाचार कह जाओ। देखना भला, एक भी बात छूटने न पाये।"

गणों ने फिर उन्हीं समाचारों को दोहराया, और शंकर ने उन्हें जी भरकर सुना।

"अच्छा; तो उमा ने अपने पिता से एक भी कड़ई बात न कही?"

"जी नहीं।"

"अपने पिता को उनकी भूल भी न दिखाई?"

"जी नहीं। वह तो बार-बार पिताजी, पिताजी रटती रहीं। उन्होंने अपने पिता को पुकारते-पुकारते अपना गला सुखा दिया।"

"तो भी उस पापी का हृदय नहीं पसीजा?"

"जी नहीं। उलटे उन्होंने तो कहा, क्या मरना नहीं जानती?"

"जानती है, दक्ष! मरना जानती है। सती ने मरकर दिखाया है कि वह मरना जानती है।" शंकर का कोप-सागर संक्षुब्ध हो उठा। उनकी आंखों में, उनके हाथों में, उनके सारे शरीर में, भयंकर हलचल मच गई। "सती ने मरना जाना है। उमा, उमा! तू गई? यों नितान्त निर्दोष रहकर गई? अपने पिता को कुछ तो चमत्कार दिखाना था? किन्तु तू ने तो मरना जाना!"

कुछ देर बाद शंकर थोड़े स्वस्थ हुए और पूछने लगे—"अच्छा, तो फिर यज्ञ का क्या हुआ?"

"यज्ञ तो फिर शुरू हुआ और चल रहा है। आचार्य ने तो एक दिन आहुति बन्द रखने की बात कही थी, पर दक्ष ने कहा—"इसकी कोई आवश्यकता नहीं।"

शंकर फिर उछले—"हूं......? तो यज्ञ अभी चल रहा है? उमा

जल मरी, और यज्ञ ज्यों का त्यों चल रहा है ? दक्ष, दक्ष ! तेरे पाप का घड़ा भर चुका है। चलूं, मैं ही यज्ञ में जाऊं।"

शंकर की आंखों से आग बरसने लगी। उनके रोएं-रोएं से क्रोध फूटने लगा। उनकी चाल से धरती थरथराने लगी। उनकी जटा में मानो प्राणों का संचार हो गया ।

ज्यों ही शंकर यज्ञ-भूमि में पहुंचे, सारे गांव में और मण्डप में हाहाकार मच गया। दक्ष अपने आसन पर से दहाड़े—"मारो, इस जोगी को; डरो मत ! इससे कह दो—"तेरी उमा गई, और अब तेरी बारी है !"

इतने में तो शंकर यज्ञ-वेदी के पास पहुंच गये। वेदी पर बैठे हुए ब्राह्मण पटापट भागने लगे; दक्ष अपने आसन पर खड़ा-खड़ा हाथ उछाल-उछाल कर चिल्लाने लगा।

शंकर एक अक्षर भी नहीं बोले। उनका सारा शरीर क्रोध से कांप रहा था; उनकी आंखों से खून बरस रहा था। शंकर ने वेदी के पास पहुंचकर भयंकर हुंकार की और साथ ही वेदी पर अपनी जटा पछाड़ी। तत्काल एक विचित्र पुरुष वहां उत्पन्न हो गया—विकराल मुंह, काला शरीर, बड़े-बड़े दांत, लोहे के समान मजबूत हाथ-पैर और विशाल छाती !

"महाराज ! क्या आज्ञा है ?" उस पुरुष ने हाथ जोड़कर पूछा।

उसका नाम था, वीरभद्र।

शंकर आंख से संकेत करके लौट पड़े। संकेत पाते ही वीरभद्र दक्ष पर झपटा और उसका गला पकड़ लिया।

"किन्तु मैंने तो उमा को हाथ भी नहीं लगाया भाई !"

"दक्ष ! तू सती का पिता है, इस विचार से मेरा हाथ ढीला पड़ रहा है; किन्तु तूने मुझे पहचाना ?"

"हां, हां; तू राक्षस है न?"

"नहीं, नहीं; मैं साधारण राक्षस नहीं। मैं उन राक्षसों में नहीं हूं, जिन्हें तेरे ब्राह्मण वेदमंत्र से डरा सकें। मैं तो वीरभद्र हूं। जहां-जहां पवित्र मनुष्य का अकारण बलिदान होता है, वहां-वहां उस बलिदान की राख में से मेरा जन्म होता है। जिस समाज में सन्त पुरुषों को बिना कारण सताया जाता है, वहां एक-न-एक दिन मुझे जन्म लेना ही पड़ता है। जिस राज्य में गरीब प्रजा को अकारण पीड़ा पहुंचाई जाती है, वहां भी एक दिन मुझे अपने बाल बिखेरकर उठ खड़ा होना पडता है। जिन परिवारों में गरीब, असहाय औरतों को मूकभाव से मरना पड़ता है, वहां भी मुझे जन्म लेना पडता है। आज इस उमा के समान पवित्र बेटी को तूने अकारण जलने दिया, यह देखकर मुझे यहां आना पडा है।"

दक्ष ने गिड़गिड़ा कर कहा—"भाई, तुम मुझे एक बार माफ नहीं करोगे? देखो, अब तो तुम्हारे शंकर भी चले गये हैं।"

"नहीं, यह संभव नहीं। मेरे जन्म से पहले तूने मेरे जन्म को रोकने का यत्न किया होता, तो वैसा हो सकता था। तू उमा को रोक सकता था; उमा के भस्म होने पर तू पश्चात्ताप कर सकता था; शंकर से प्रार्थना कर सकता था। यह सब तेरे बस का था, तेरी मर्यादा में था। अब तो चूंकि मैं पैदा हो चुका हूं, इसलिए तुझे मरना ही होगा, तेरे ब्राह्मणों को भागना ही होगा। अब तेरा यज्ञ छिन्न-भिन्न हुए बिना रह नहीं सकता, तेरे कुल का सर्वनाश रुक नहीं सकता और यज्ञ-भूमि का रक्तस्नान थम नहीं सकता। यह सब तो अब होकर ही रहेगा। उमा की मृत्यु से उत्पन्न इन परिणामों को रोकने की शक्ति किसीमें नहीं।"

"किन्तु अब भी मैं शंकर से क्षमा मांग लूं तो?"

"अब वह समय बीत गया। अब तो बाजी शंकर के हाथ में भी नहीं

रही!" इन शब्दो के साथ वीरभद्र ने दक्ष का सिर धड़ से अलग कर दिया, कुछ ब्राह्मणों को घायल किया, कुछ को मार डाला, यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और सारे नगर में हाहाकार मचा दिया। क्षण भर पहले जहां धर्म दीखता था, वहां अधर्म फैल गया, व्यंवस्था का स्थान अव्यवस्था ने ले लिया, जहां श्री और लक्ष्मी विराजती थी, वहां क्रूर दैत्य आ विराजा, जहां ब्राह्मण फिरते वहां ढेढ़-भंगी नजर आने लगे, और चारों तरफ ऐसी अराजकता फैल गई, मानो प्रलयकाल समीप आ पहुंचा हो।

दक्ष की समूची राजधानी को महान् श्मशान बनाकर वीरभद्र ने अपना अवतार-कार्य समाप्त किया।

समाप्त